मण्टो अब तक-15



मीना बाज़ार

सआदत हसन मण्टो



मीना बाज़ार

मीना बाज़ार

सआदत हसन मण्टो

वाणी प्रकाशन

वाणी प्रकाशन
4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली 110 002

शाखा
अशोक राजपथ, पटना 800 004
फ़ोन: +91 1123273167 फ़ैक्स: +91 1123275710
www.vaniprakashan.in
vaniprakashan@gmail.com

MEENA BAZAR
by Saadat Hasan Manto

ISBN : 978-93-5072-277-0
Collection of Short Stories

प्रथम संस्करण

वाणी प्रकाशन का लोगो मक़बूल फ़िदा हुसेन की कूची से

भूमिका

मण्टो की अधिकांश कहानियों की प्रेरणा या उत्स, उसका यह एहसास है—अत्यन्त प्रामाणिक और सच्चा एहसास—कि इस सारे निज़ाम में कहीं कुछ बहुत ग़लत है—आधारभूत रूप से ग़लत और नाकाबिले-बरदाश्त। वह अपनी सारी शक्ति के साथ दर्द और दुख और तकलीफ़ के सही मुकाम पर उँगली रखता है—कि यही उसके निकट, लेखन का उद्देश्य है। मण्टो की यह भावना एक गहरे नैतिक उत्तरदायित्व के एहसास से उपजती है। एक ऐसी व्यवस्था में रहते हुए, जो लगातार मानवीयता को कुचलती है, मण्टो निजी तौर पर, अपने समाज और अपने साथियों के प्रति खुद को उत्तरदायी समझता है और तकलीफ़ के सही मुकाम पर उँगली रखना, उसके नज़दीक, उसके मानवीय फ़र्ज़ की अदायगी है। इसीलिए वह बार-बार उन आधारभूत मसलों की तरफ़ मुड़ता है, जो सहज ज़िन्दगी के रास्ते में रुकावट बन कर खड़े हैं—राजनीति, साम्प्रदायिकता, झूठ, फ़रेब, स्वार्थ, भ्रष्टाचार, सरमायेदारी, शोषण।

अपने इसी नैतिक उत्तरदायित्व को महसूस करके, मण्टो हर तरह की साम्प्रदायिकता और फ़िरकेवाराना प्रवृत्ति से ऊपर उठकर उस 'गलती' पर पूरे ज़ोर से आघात करता है, इसीलिए वह तथाकथित 'प्रगतिशील' लेखकों की जमात से कहीं ज़्यादा प्रगतिशील है। चूँकि वह किसी राजनीतिक दल या धार्मिक सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ नहीं है इसीलिए वह चीज़ों को किसी पर्दे को आड़ से नहीं देखता और अपने अनुभवों तथा अपनी अनुभूतियों को सच के तीखेपन से खुली अभिव्यक्ति देता है। उसे यह डर नहीं है कि कल अगर मौजूदा समीकरण में कोई फेर-बदल हो तो उसे अपना बयान बदलने की ज़रूरत पड़ सकती है।

वह अपने अनुभवों और उनकी अभिव्यक्ति के सिलसिले में किसी तरह का दबाव कबूल करने के लिए तैयार नहीं है। वह 'पार्टी लाइन' के नुक्ते-नज़र से नहीं, वरन सहज मानवीय दृष्टि से हालात को परखता है और इसीलिए वह पूरी अज़ादी के साथ 'अपना बयान' लिपिबद्ध कर सकता है। उसे पार्टी लाइन की कोई फ़िक्र नहीं है क्योंकि वह जानता है कि आम आदमी के दुख-दर्द को 'पार्टी लाइनें' कई बार नज़र अन्दाज़ कर देती हैं, पार्टी की राह न तो ज़िन्दगी की राह है, न आम आदमी के एहसासात की। उसे मालूम है कि पार्टी को राजनीतिक स्तर पर बहुत-से समझौते भी करने पड़ते हैं और अक्सर पार्टी का नज़रिया डाग्मैटिक हो जाता है। इसीलिए मण्टो आश्वस्त है कि जब तक वह आम आदमी की तकलीफ़ों का सहभागी बन कर उनका सच्चा और खरा चित्रण कर रहा है, और जनता के दुश्मनों की ओर इशारा कर रहा है। तब तक उसे प्रगतिशील कहलाने के लिए किसी बिल्ले या तमग़े की ज़रूरत नहीं है।

नीलाभ

अनुक्रम

नर्गिस

अर्सा हुआ, नवाब छतारी की साहबज़ादी तसनीम (मिसेज़ तसनीम सलीम) ने मुझे एक ख़त लिखा था—

> “तो क्या ख़याल है आपका अपने बहनोई के बारे में? वे जो अन्दाज़ा आपकी तरफ़ से लगा कर लौटे हैं, तो मुझे अपने लिए शादी मर्ग का अन्देशा हुआ जाता है। अब मैं आपको तफ़सील से बता दूँ कि ये हज़रत मुझे आपके नाम से छेड़ा करते थे और उनका ख़याल था कि जब वे मेरे अनदेखे भाई से मिलेंगे, तो न जाने क्या-क्या हिमाकतें घटित होंगी...और मुझे शर्मिन्दगी होगी और अब परसों से ज़िद ठाने हुए हैं कि बम्बई चल कर मंटो से मिलो, बहुत ही दिलचस्प आदमी है। और इस तरह कहते हैं गोया मंटो मेरे बजाय उनका भाई है और मैं हमेशा से कहती थी कि देखना, ये हज़रत कैसे निकलते हैं...ज़बरदस्ती तो कीजिए ...बहरहाल बहुत ख़ुश हैं कि मेरा चुनाव बहुत ख़ूब रहा...हमारे प्यारे भाई यानी इब्न भाई, सलीम से पहले ही पहुँच गये थे और उन्होंने सब से पहली यही बात बताई कि वे आप से मिल कर आये हैं। नर्गिस का ज़िक्र जान-बूझ कर गोल करके बाक़ी सब तफ़सील से बता दिया। फिर जब सलीम आये तो उन्होंने न सिर्फ़ झुक कर माथा रगड़ने की कहानी बताई, बल्कि आपकी और नख़शब की लड़ाई का क़िस्सा भी दिलचस्पी से बयान किया। इस सिलसिले में सलीम माफ़ी चाहते हैं। दोबारा जद्दन बाई के यहाँ जाने के लिए कहने वाले शमशाद भाई (जो आपसे मिल चुके हैं) वग़ैरह थे और उनसे मुमकिन होता तो आपसे अलावा न जाते और यह तो आप भी जानते हैं कि सलीम को अगर इश्क़ हुआ है तो लीला चिटनिस से वरना ऐसे बदनज़र भी नहीं।”

मैं बहुत व्यस्त था। जब सलीम मेरे यहाँ आये उनसे मेरी पहली मुलाक़ात थी और तसनीम के कहने के मुताबिक वे मेरे बहनोई थे। इसलिए उनकी ख़ातिरदारी के सिवा और कोई चारा नहीं था। घर में जो हाज़िर था, उनको और उनके मुसाहबों की ख़िदमत में पेश कर दिया। फ़िल्म से जुड़े लोगों के पास एक तोहफे की चीज़ ‘शूटिंग’ होती है। चुनांचे वह भी उनको ‘श्री साउण्ड स्टूडियो’ में दिखा दी गयी। ग़ालिबन ‘फूल’ की थी जिसे डायरेक्टर धासूँ यानी आसिफ़ बना रहा था।

सलीम और उनके साथियों को ज़ाहिरा तौर पर इत्मीनान हो जाना चाहिए था। मगर ऐसा मालूम होता है कि वे अपना प्रोग्राम बना कर बम्बई पहुँचे थे। सलीम ने बातचीत के दौरान मुझसे पूछा...“क्यों साहब, नर्गिस कहाँ होती है आजकल?”

मैंने मज़ाक़ के लहजे में कहा...“अपनी माँ के पास।”

मेरा मज़ाक़ अनचाही अकाल मौत की गोद में चला गया, जब मेरे मेहमानों में से एक ने

बड़ी नवाबाना सादा-लौही से कहा...“जद्दन बाई के पास?”

“जी हाँ।”

सलीम ने पूछा...“क्या उससे मुलाक़ात हो सकती है...मेरा यह मतलब है कि मेरे ये दोस्त उसको देखने के लिए बहुत उत्सुक हैं...क्या आप उसको जानते हैं?”

मैंने जवाब दिया—“जानता हूँ...मगर मामूली-सा।”

एक साहब ने बड़े बेढब अन्दाज़ में सवाल किया...“क्यों?”

“इसलिए कि उसे और मुझे अभी तक किसी फ़िल्म में इकट्ठे काम करने का मौक़ा नहीं मिला।”

सलीम ने यह सुन कर कहा...“तो छोड़िए...हम आपको ख़ामख़ा तकलीफ़ देना नहीं चाहते।”

लेकिन मैं ख़ुद नर्गिस के यहाँ जाना चाहता था। कई दफ़ा इरादा किया था, मगर अकेले जाना मुझे पसन्द नहीं था। साथ मिलता था तो निहायत ही बेहूदा यानी दीदे फाड़-फाड़ कर घूरने वाला। अब मौक़ा था। आदमी सीधे-सादे थे। महज़ ऐयाशी के तौर पर नर्गिस को एक नज़र देखना चाहते थे ताकि वापस अपनी जागीरों और रियासतों में जा कर अपने दोस्तों और मुसाहिबों को मशहूर फ़िल्म स्टार नर्गिस के आँखों देखे हालात सुनाएँ। चुनांचे मैंने सलीम से कहा...“तकलीफ़ की कोई बात नहीं। चलते हैं, मुमकिन है, मुलाक़ात हो जाये।”

मैं नर्गिस से क्यों मिलना चाहता था। बम्बई में इतनी ऐक्ट्रेसें थीं जिनके यहाँ मैं जब चाहता आ-जा सकता था, मगर ख़ास तौर पर नर्गिस से मिलने का मतलब क्या था? मेरा ख़याल है इसका जवाब देने से पहले मैं आपको एक दिलचस्प घटना सुना दूँ।

मैं ‘फ़िल्मिस्तान’ में मुलाज़िम था। सुबह जाता तो शाम को आठ के क़रीब लौटता। एक रोज़ इत्तफ़ाक़ से वापसी जल्दी हुई। यानी मैं दोपहर ही के क़रीब घर पहुँच गया। अन्दर दाख़िल हुआ तो सारी फ़िज़ा हिलती हुई नज़र आयी। जैसे कोई साज़ के तार छेड़ कर ख़ुद छिप गया है। ड्रेसिंग-टेबिल के पास मेरी दो सालियाँ खड़ी बज़ाहिर अपने बाल गूँथ रही थीं। मगर उनकी उँगलियाँ हवा में चल रही थीं। होंट दोनों के फड़फड़ा रहे थे। मगर आवाज़ नहीं निकलती थी। दोनों मिल-जुल कर घबराहट की ऐसी तस्वीर पेश कर रही थीं। जो अपनी घबराहट छुपाने की ख़ातिर बेमतलब दुपट्टा ओढ़ने की कोशिश कर रही हो। साथ वाले कमरे के दरवाज़े का पर्दा अन्दर की तरफ़ दबा हुआ था।

मैं सोफ़े पर बैठ गया। दोनों बहनों ने एक-दूसरे की तरफ़ क़ुसूरवार निगाहों से देखा। हौले-हौले से खुसर-फुसर की। फिर दोनों ने वयकवक़्त कहा...“भाजी, सलाम।”

“वालैकुम अस्सलाम”, मैंने ग़ौर से उनकी तरफ़ देखा, “क्या बात है?”

मैंने सोचा कि सब मिल कर सिनेमा जा रही हैं। दोनों ने मेरा सवाल सुन कर फिर खुसर-फुसर की। फिर एकदम खिलखिला कर हँसी और दूसरे कमरे में भाग गयीं।

मैंने सोचा कि शायद इन्होंने अपनी किसी सहेली को बुला रखा है, वह आने वाली है और चूँकि मैं उम्मीद के ख़िलाफ़ जल्द चला आया हूँ, इसलिए इन का प्रोग्राम दरहम-बरहम हो गया है।

दूसरे कमरो में तीनों बहनों में कुछ देर तक सरगोशियाँ होती रहीं। उसके बाद सबसे बड़ी बहन यानी मेरी बीवी बज़ाहिर अपनी बहनों से मुख़ातिब मगर दरअस्ल मुझे सुनाने के लिए यह कहती हुई बाहर निकली, "मुझे क्या कहती हो, कहना है तो ख़ुद उनसे कहो... सआदत साहब आज बहुत जल्दी आ गये?"

मैंने वजह बयान कर दी कि स्टूडियो में कोई काम नहीं था, इसलिए चला आया। फिर अपनी बीवी से पूछा..."क्या कहना चाहती हैं मेरी सालियाँ?"

"ये कहना चाहती हैं कि नर्गिस आ रही है।"

"तो क्या हुआ...आये। क्या वह पहले कभी नहीं आयी।"

मैं समझा कि वह उसी पारसी लड़की की बात कर रही है, जिसकी माँ ने एक मुसलमान से शादी कर ली थी और हमारे पड़ोस में रहती थी। मगर मेरी बीवी ने कहा..."हाय, वह पहले कब हमारे यहाँ आयी है।"

"तो क्या वह कोई और नर्गिस है?"

"मैं नर्गिस ऐक्ट्रेस की बात कर रही हूँ।"

मैंने ताज्जुब से पूछा..."वह क्या करने आ रही है यहाँ?"

मेरी बीवी ने मुझे सारा क़िस्सा सुनाया। घर में टेलीफ़ोन था जिसे तीनों बहनें फ़ुर्सत के वक़्त बहुत खुले दिल से इस्तेमाल करती थीं। जब अपनी सहेलियों से बातें करती-करती थक जातीं तो किसी ऐक्ट्रेस का नम्बर घुमा देतीं। वह मिल जाती तो उससे ऊट-पटाँग गुफ़्तगू शुरू हो जाती..हम आपकी बहुत मद्दाह हैं। आज ही दिल्ली से आयी हैं। बड़ी मुश्किलों से आपका नम्बर हासिल किया है। आपसे मुलाक़ात करने के लिए तड़प रही हैं। ज़रूर हाज़िर होती मगर पर्दे की पाबन्दी है। आप बहुत हसीन हैं—चाँद-सूरज ही तरह। गला माशा अल्लाह बहुत ही सुरीला है। (हालाँकि उनको मालूम था कि गाना अमीर बाई या शमशाद ने गाया होता।)

आम तौर पर मशहूर फ़िल्म ऐक्ट्रेसों के टेलीफ़ोन नम्बर डायरेक्टरी में दर्ज नहीं होते। वे ख़ुद नहीं करातीं कि उनके चाहने वाले बेकार तंग न करें। मगर इन तीन बहनों ने मेरे दोस्त आग़ा ख़लिश काश्मीरी के ज़रिये क़रीब-क़रीब उन तमाम ऐक्ट्रेसों के फ़ोन नम्बर मालूम कर लिये थे, जो उन्हें डायरेक्टरी में नहीं मिले थे।

इस टेलीफ़ोन शग़ल के दौरान में जब उन्होंने नर्गिस को बुलाया और उससे बातचीत की, तो वह उन्हें बहुत पसन्द आ गयी। इस गुफ़्तगू में उनको अपनी उम्र की आवाज़ सुनाई दी। चुनांचे कुछ बार की टेलीफ़ोन बातचीत ही में वे उससे बेतकल्लुफ़ हो गयीं। मगर अपनी असलियत छिपारखी। एक कहती, मैं अफ्रीक़ा की रहने वाली हूँ। वही दूसरी बार यह बताती कि लखनऊ से अपनी ख़ाला के पास आयी हूँ। दूसरी यह ज़ाहिर करती कि वह रावलपिण्डी की रहने वाली है और सिर्फ़ इसलिए बम्बई आयी है कि उसे नर्गिस को एक बार देखना है। तीसरी, यानी मेरी बीवी, कभी गुजरातन बन जाती, कभी पारसन।

टेलीफ़ोन पर कई बार नर्गिस ने झुँझला कर पूछा कि तुम लोग असल में कौन हो? क्यों

अपना नाम-पता छिपाती हो? साफ़-साफ़ क्यों नहीं बताती कि यह रोज़-रोज़ की टन-टन ख़त्म हो।

ज़ाहिर है कि नर्गिस उनसे प्रभावित थी। उसको यक़ीनन अपने सैकड़ों चाहने वालों के फ़ोन आते होंगे। मगर ये तीन लड़कियाँ उनसे कुछ अलग थीं। इसलिए वह सख़्त बेचैन थी कि उनकी असलियत जाने और उनसे मिले-जुले। चुनांचे जब भी उसे मालूम होता कि इन भेद-भरी लड़कियों ने उसे फ़ोन पर बुलाया है तो वह सौ काम छोड़ कर आती और बहुत देर तक टेलीफ़ोन के साथ चिपकी रहती।

एक दिन नर्गिस के बार-बार ज़ोर देने पर आख़िरकार तय हो गया कि उनकी मुलाक़ात हो के रहेगी। मेरी बीवी ने अपने घर का पता अच्छी तरह समझा दिया और कहा कि अगर फिर भी मकान मिलने में दिक़्क़त हो तो भायखला के पुल के पास किसी होटल से टेलीफ़ोन कर दिया जाय। वे सब वहाँ पहुँच जायेंगी।

जब मैं घर में दाख़िल हुआ भायखला पुल के एक स्टोर से नर्गिस ने फ़ोन किया था कि वह पहुँच चुकी है, मगर मकान नहीं मिल रहा। चुनांचे तीनों अफ़रा-तफ़री के आलम में तैयार हो रही थीं। इसी बीच मैं अचानक टूट पड़ने वाली विपदा की तरह पहुँच गया।

छोटी दो का ख़याल था कि मैं नाराज़ हूँगा। बड़ी यानी मेरी बीवी महज़ बौखलाई हुई थी कि यह सब क्या हुआ है...मैंने नाराज़ होने की कोशिश की, मगर मुझे उसके लिए कोई माकूल जवाज़ न मिला। सारा क़िस्सा काफ़ी दिलचस्प और बेहद मासूम था। अगर "कान मिचौली" की यह हरकत सिर्फ़ मेरी बीवी से सरज़द हुई होती तो बिलकुल जुदा बात थी। एक साली आधी घरवाली होती है और यहाँ दो सालियाँ थीं। पूरा घर ही उनका था। मैं जब उठा तो दूसरे कमरे में खुश होने और तालियाँ बजाने की आवाज़ें बुलन्द हुईं।

भायखला के चौक में जद्दन बाई की लम्बी-चौड़ी मोटर खड़ी थी। मैंने सलाम किया तो उसने हस्ब-ए-मामूल बड़ी बुलन्द आवाज़ में उसका जवाब दिया और पूछा..."कहो मंटो, कैसे हो?"

मैंने कहा, "अल्लाह का शुक्र है...कहिए आप यहाँ क्या कर रही हैं?"

जद्दन बाई ने पिछली नशिस्त पर बैठी हुई नर्गिस की तरफ़ देखा..."कुछ नहीं, बेबी को अपनी सहेलियों से मिलना था, मगर उनका मकान नहीं मिल रहा।"

मैंने मुस्करा कर कहा, "चलिए, मैं आपको ले चलूँ।"

नर्गिस यह सुन कर खिड़की के पास आ गयी, "आपको उनका मकान मालूम है?"

मैंने और ज़्यादा मुस्करा कर कहा, "क्यों नहीं...अपना मकान कौन भूल सकता है।"

जद्दन बाई के हलक़ ने अजीब-सी आवाज़ निकाली। पान के बीड़े को दूसरे कल्ले में तब्दील करते हुए कहा, "यह तुम क्या अफ़साना-निगारी कर रहे हो।"

मैं दरवाज़ा खोलकर जद्दन बाई के पास बैठ गया। "बीवी! यह अफ़साना-निगारी मेरी नहीं है। मेरी बीवी और उसकी बहनों की है।" इसके मैंने मुख़्तसरन तमाम वाक़आत बयान कर दिये। नर्गिस बड़ी दिलचस्पी से सुनती रही। जद्दन बाई को बहुत कोफ़्त हुई। "लाहौल वला...ये कैसी लड़कियाँ हैं। पहले ही दिन कह दिया होता कि हम मंटो के घर से बोल रही

हैं...ख़ुदा की क़सम मैं फ़ौरन बेबी को भेज देती। भई हद हो गयी है इतने दिन परेशान किया...ख़ुदा की क़सम बेचारी बेबी को इतनी उलझन होती थी कि मैं तुमसे क्या कहूँ। जब टेलीफ़ोन आता भागी-भागी जाती...मैं हज़ार पूछती यह कौन है जिससे इतनी देर मीठी-मीठी बातें होती हैं। मुझसे कहती कोई है। जानती नहीं कौन हैं, मगर हैं बड़ी अच्छी। दो-एक बार मैंने भी टेलीफ़ोन उठाया गुफ़्तगू माशा अल्लाह बड़ी शाइस्ता थी। किसी अच्छे घर की मालूम होती थीं, मगर माफ़ करना कमबख़्त अपना नाम-पता साफ़ बताती ही नहीं थी। आज बेबी आयी खुशी से दीवानी हो रही थी। कहने लगी...बीबी, उन्होंने बुलाया है। अपना ऐड्रस दे दिया है। मैंने कहा...पागल हुई हो, हटो जाने कौन हैं, कौन नहीं हैं। पर इसने मेरी एक न मानी, बस पीछे पड़ गयी। चुनांचे मुझे साथ आना ही पड़ा...ख़ुदा की क़सम अगर मालूम होता कि ये आफ़तें तुम्हारे घर की हैं...”

मैंने बात काट कर कहा, “तो साथ आप नाज़िल न होतीं।”

जद्दन बाई के कल्ले में दबे हुए पान में चौड़ी मुस्कराहट पैदा हुई, “इसकी ज़रूरत ही क्या थी...मैं क्या तुम्हें जानती नहीं।”

मरहूमा को उर्दू-अदब से बड़ा लगाव था। मेरी रचनाएँ बड़े शौक़ से पढ़तीं और पसन्द करती थीं। उन दिनों मेरा एक मज़मून “साकी” में शाया हुआ था। ग़ालिबन ‘तरक़्क़ी याफ़्ता क़ब्रस्तान’ मालूम नहीं उस का ज़ेहन क्यों उस तरफ़ चला गया। “ख़ुदा की क़सम मंटो... बहुत ख़ूब लिखते हो। ज़ालिम क्या तंज़ किया है उस मज़मून में...“क्यों बेबी, उस दिन क्या हाल हुआ था मेरा यह मज़मून पढ़ कर।”

मगर नर्गिस अपनी नादीदा सहेलियों के मुताल्लिक़ सोच रही थी। इज़तराब-मरे लहजे में उसने अपनी माँ से कहा...“चलो बीबी।”

जद्दन बाई मुझसे मुख़ातिब हुई...“चलो भाई।”

घर पास ही था। मोटर स्टार्ट हुई और हम पहुँच गये। ऊपर बालकनी से तीनों बहनों ने हमें देखा। छोटी दो का मारे खुशी के बुरा हाल हो रहा था। ख़ुदा मालूम आपस में क्या खुसर-फुसर कर रही थीं। जब हम ऊपर पहुँचे तो अजीब-ओ-ग़रीब तरीक़े पर सब की मुलाक़ात हुई। नर्गिस अपनी हम उम्र लड़कियों के साथ दूसरे कमरे में चली गयी और मैं, मेरी बीवी और जद्दन बाई वहीं बैठ गये।

बहुत देर तक मुख़्तलिफ़ ज़ावियों से कान-मिचौली के सिलसिले पर तबसरा किया गया। मेरी बीवी की बौखलाहट जब किसी क़दर कम हुई तो उसने मेज़बान के फ़रायज़ सरअंजाम देने शुरू कर दिये।

मैं और जद्दन बाई फ़िल्म इंडस्ट्री के हालात पर तबादला-ए-ख़यालात करते रहे। पान खाने के मामले में बड़ी खुश जौक़ थीं। हर वक़्त अपनी पनदनियाँ साथ रखती थीं। बड़ी देर के बाद मौक़ा मिला था इसलिए मैंने उस पर ख़ूब हाथ साफ़ किया।

नर्गिस को मैंने एक मुद्दत के बाद देखा था। दस-ग्यारह बरस की बच्ची थी जब मैंने एक-दो मर्तबा फ़िल्मों के प्रीमियर में उसे अपनी माँ की उँगली के साथ लिपटी देखा था। चुंधियाई हुई आँखें, बेकशिश-सा लम्बोतरा चेहरा सूखी-सूखी टाँगें। ऐसा मालूम होता था सो

के उठी है या सोने वाली है। मगर अब वह एक जवान लड़की थी। उम्र ने उसकी ख़ाली जगहें पुर कर दी थीं, मगर आँखें वैसी-की-वैसी थीं छोटी और ख़्वाब-ज़दह...बीमार-बीमार...मैंने सोचा इस रिआयत से उसका नाम नर्गिस मौज़ूँ-ओ-मुनासिब है।

तबीयत में निहायत ही मासूम खिलन्दड़ापन था। बार-बार अपनी नाक पोंछती थी जैसे अज़ली ज़ुकाम की शिकार है ('बरसात' में उसको अदा के तौर पर पेश किया गया है) मगर उसके उदास-उदास चेहरे से साफ़ ज़ाहिर था कि वह अपने अन्दर किरदार-निगारी का जौहर रखता है। होंटों को किसी क़दर भींच कर बात करने और मुस्कराने में गो बज़ाहिर एक बनावट थी, मगर साफ़ पता चलता था कि यह बनावट शृंगार का रूप इख़्तियार कर के रहेगी। आख़िर किरदार-निगारी की बुनियादें बनावट ही पर तो उस्तवार होती हैं।

एक बात जो ख़ास तौर पर मैंने महसूस की वह यह है कि नर्गिस को इस बात का कामिल एहसास था कि वह एक दिन बहुत बड़ी स्टार बनने वाली है, मगर यह दिन क़रीबतर लाने और उसे देख कर खुश होने में उसे कोई उजलत नहीं थी। इसके अलावा अपने लड़कपन की नन्ही-मुन्नी खुशियाँ घसीट कर बड़ी-बड़ी बेहगंम खुशियों के दायरे में नहीं ले जाना चाहती थी।

तीनों हम उम्र लड़कियाँ दूसरे कमरे में जो बातें कर रही थीं उनका दायरा घर और कॉन्वेंट की चहारदीवारी तक महदूद था। फ़िल्म स्टूडियो में क्या होता है। रोमांस क्या बला है इससे उनको कोई दिलचस्पी नहीं थी कि वह फिल्म-स्टार है पर्दे पर जिसकी अदाएँ बिकती हैं और उसकी सहेलियाँ भी यह भूल गयी थीं कि नर्गिस स्क्रीन पर बुरी-बुरी हरकतें करने वाली ऐक्ट्रेस है।

मेरी बीवी जो उम्र में नर्गिस से बड़ी थी। अब उसकी आमद पर बिलकुल बदल गयी थी। उसका सुलूक़ ऐसा ही था जैसा अपनी छोटी बहनों से था। पहले उसको नर्गिस से इसलिए दिलचस्पी थी कि वह फिल्म ऐक्ट्रेस है, पर्दे पर बड़ी ख़ूबी से नित्य नये मर्दों से मुहब्बत करती है। हँसती है, आहें भरती है, कुदक्कड़े लगाती है। अब उसे ख़याल था कि वह खट्टी चीज़ें न खाये। बहुत ठण्डा पानी न पिये। ज़्यादा फ़िल्मों में काम न करे। अपनी सेहत का ख़याल रखे। अब उसके नज़दीक नर्गिस का फ़िल्मों में काम करना कोई मायूब बात नहीं थीं।

मैं, मेरी बीवी और जद्दन बाई इधर-उधर की बातों में मशग़ूल थे कि आपा सआदत आ गयीं। मेरी हम नाम हैं और बड़ी दिलचस्प चीज़ हैं। तसन्नों से लाखों मील दूर हैं। हस्ब-ए-मामूल वह इस अन्दाज़ से आयीं कि जद्दन बाई से उनको मुतारिफ़ कराने का हमें मौक़ा ही न मिला। अपने दो-ढाई मन के वुजूद के बोझ को सोफ़े पर हलक़े करते हुए बोलीं..."सफ़्फ़ो जान! तुम्हारे भाई जान से मैंने लाख कहा था कि ऐसी मुर्दार मोटर न ख़रीदो, मगर उन्होंने एक न सुनी...दो क़दम चली होगी कि हाँफ़ने लगी और खड़ी हो गयी। अब खड़े हैंडल मार रहे हैं। मैंने कहा आप जाइए, मैं तो सफ़्फ़ो के पास बैठती हूँ।"

जद्दन बाई ग़ालिबन किसी नवाब की बात कर रही थीं जो बहुत अय्याश था। आपा सआदत की वजह से बात मुकम्मल न हो सकी थी। अब फिर शुरू हुई तो आपा सआदत ने भी उसमें हिस्सा लेना शुरू कर दिया। काठियावाड़ के क़रीब-क़रीब तमाम रियासतों और

उनके नवाबों को अच्छी तरह जानती थीं। क्योंकि रियासत मागरौल के नवाबी ख़ानदान में ब्याही गयी थीं।

जद्दन बाई अपने पेशे की वजह से तमाम वालयान-ए-रियासत को अच्छी तरह जानती पहचानती थीं। बातों-बातों में एक बड़ी रियासत-ख़ोर क़िस्म की तवायफ़ का ज़िक्र छिड़ गया। आपा सआदत शुरू हो गयीं..."ख़ुदा उनसे महफ़ूज़ रखे। जिसके साथ चिमटती हैं उसको दीन का रखती हैं न दुनिया का।"

"बर्बाद, सेहत बर्बाद, इज़्ज़त बर्बाद सफ़्फ़ो जान मैं तुम्हें बताऊँ सौ बीमारियों की एक बीमारी है यह तवायफ़..."

मैं और मेरी बीवी सख़्त परेशान कि आपा सआदत को कैसे रोकें। जद्दन बाई बड़ी फ़राख़ दिली से आपा सआदत की हाँ में हाँ मिला रही थीं और हम दोनों पसीना-पसीना हुए जा रहे थे। एक-दो बार मैंने उनको रोकने की कोशिश की, मगर वह और ज़्यादा जोश में आ गयीं। जी भर के गालियाँ देने लगीं, लेकिन यकलख़्त उन्होंने जद्दन बाई की तरफ़ देखा। उनके सफ़ेद गोश्त-भरे चेहरे पर एक अजीब-ओ-ग़रीब थरथरी पैदा हुई। उनकी नाक की कील का हीरा गर्दन की जुम्बिश के साथ दो-तीन दफ़ा बड़ी तेज़ी से चमका और फिर उनका मुँह खुला। ज़ोर से अपनी रानों पर दो हाड़ मार कर उन्होंने तोतलाये हुए लहजें में जद्दन बाई से कहा..."आप?...आप तो जद्दन...आप जद्दन बाई हैं ना?"

जद्दन बाई ने बड़ी मतानत से जवाब दिया..."जी हाँ।"

आपा सआदत का मुँह और ज़्यादा खुला..."ओह...तो आप...मेरा मतलब है कि आप तो बहुत ऊँची तवायफ़ हैं...क्यों सफ़्फ़ो जान?" सफ़्फ़ो जान बर्फ़ हो गयी। मैंने जद्दन बाई की तरफ़ देखा और मुस्कराया...मेरा ख़याल है बहुत ही वाहियात क़िस्म की मुस्कराहट थी। जद्दन बाई ने यूँ ज़ाहिर किया जैसे कोई बात ही नहीं हुई और उस बड़ी रियासत ख़ोर क़िस्म की तवायफ़ के बकाया हालात बयान करने शुरू कर दिये जिसका ज़िक्र छेड़ने पर आपा सआदत को लेक्चर देना पड़ा था।

जद्दन बाई की कोशिश के बावजूद बात न जमी। आपा सआदत को अपनी ग़लती का और हमें अपनी ख़िफ़्फ़त का बहुत ही शदीद एहसास था, मगर जब लड़कियाँ आ गयीं तो फ़ज़ा का तकद्दर दूर हो गया। इधर-उधर की बातों के बाद नर्गिस से फ़रमाइश की गयी कि वह गाना सुनाए। इस पर जद्दन बाई ने कहा, "मैंने इसको मौसीक़ी की तालीम नहीं दी। मोहन बाबू इसके ख़िलाफ़ थे और सच पूछिए तो मुझे भी पसन्द नहीं था...थोड़ा बहुत टूँ-टाँ कर लेती है।" इसके बाद वह अपनी बेटी से मुख़ातिब हुई..."सुना दो बेबी...जैसा भी आता है सुना दो।"

नर्गिस ने बड़ी मासूमाना बेतकल्लुफ़ी से गाना शुरू कर दिया...परले दर्जे की कनसुरी थी। आवाज़ में रस न लोच, मेरी छोटी साली उससे लाखों दर्जे बेहतर गाती थीं, मगर फ़रमाइश की गयी थी और वह भी बड़ी पुर-इसरार इसलिए दो-तीन मिनट तक उसका गाना बर्दाश्त करना ही पड़ा। जब उसने ख़त्म किया तो सब ने तारीफ़ की। मैं और आपा सआदत ख़ामोश रहे। थोड़ी देर के बाद जद्दन बाई ने रुख़्सत चाही। लड़कियाँ नर्गिस के गले मिलीं।

दोबारा मिलने के वादे-मईद हुए। कुछ खुसर-फुसर भी हुई और हमारे मेहमान चले गये।

नर्गिस से यह मेरी पहली मुलाक़ात थी।

इसके बाद और कई मुलाक़ातें हुईं। लड़कियाँ टेलीफ़ोन करती थीं और नर्गिस अकेली मोटर में चली आती थी। इस आमद-ओ-रफ़्त में उसके ऐक्ट्रेस होने का एहसास क़रीब-क़रीब मिट गया। वह लड़कियों से और लड़कियाँ उससे यूँ मिलती थीं जैसे वह उनकी बहुत पुरानी सहेली है या कोई रिश्तेदार है। लेकिन जब वह चली जाती तो कभी-कभी तीनों बहनें इस अजानमन का इज़हार करतीं—"ख़ुदा की क़सम अजीब बात है कि नर्गिस बिलकुल ऐक्ट्रेस मालूम नहीं होती।"

इस दौरान तीनों ने उसकी एक ताज़ा फ़िल्म देखी। जिसमें ज़ाहिर है कि वह अपनी हीरो की महबूबा थी। जिससे वह प्यार-मुहब्बत की बातें करती थी और उसे अजीब-अजीब निगाहों से देखती थी। उसके साथ लग कर खड़ी होती थी। उसका हाथ दबाती थी। मेरी बीवी कहती..."कमबख़्त उसके फ़िराक़ में कैसी लम्बी लम्बी आहें भर रही थी जैसे सचमुच उसके इश्क़ में गिरफ़्तार है।" और उसकी छोटी दो बहनें अपने कँवारे ऐक्टिंग से ना-आशना दिलों में सोचतीं..."और कल वह हमसे पूछ रही थी कि गुड़ की टाफ़ी कैसे बनाई जाती है।"

नर्गिस की अदाकारी के मुताल्लिक़ मेरा ख़याल बिलकुल मुख़्तलिफ़ था। वह क़तई तौर पर जज़्बात-ओ-एहसासात की सही अक्कासी नहीं करती थी। मुहब्बत की नब्ज़ किस तरह चलती है यह अनाड़ी उँगलियाँ कैसे महसूस कर सकती थीं। इश्क़ की दौड़ में थक कर हाँफ़ना और स्कूल की दौड़ में थक कर साँस का फूल जाना दो बिलकुल मुख़्तलिफ़ चीज़ें हैं। मेरा ख़याल है कि ख़ुद नर्गिस भी इसके फर्क़ से आगाह नहीं थी। उसकी शुरू-शुरू फ़िल्मों में चुनांनचः दक़ीक़ा रस निगाहें फ़ौरन मालूम कर सकती हैं कि उसकी अदाकारी यक्सर फ़रेब कारी से मअर्रा थी।

तसन्नो का यह कमाल है कि वह तसन्नो मालूम न हो। लेकिन नर्गिस के तसन्नो की बुनियादें चूँकि तजरुबों पर उस्तवार नहीं थीं इसलिए उसमें यह ख़ूबी नहीं थी। यह सिर्फ़ उसका खुलूस था। वह बेपनाह खुलूस जो उसे अपने शौक़ से था कि वह जज़्बात-ओ-एहसासात के निहायत की ख़ाम इज़हार के बावजूद अपना काम निभा जाती थी। उम्र और तजरुबे के साथ-साथ अब वह बहुत पुख़्तगी इख़्तियार कर चुकी है। अब उसको इश्क़ की दौड़ और स्कूल की एक मील की दौड़ में थक कर हाँफ़ने का फ़र्क़ मालूम है। अब तो उसको साँस के हल्के-से-हल्के ज़ेर-ओ-बम का नफ़सियाती यस-मंज़र भी मालूम है।

यह बहुत अच्छा हुआ कि उसने अदाकारी की मंजिल आहिस्ता-आहिस्ता तय की। अगर वह एक ही जस्त में आख़री मंज़िल पर पहुँच जाती तो अहल-ए-ज़ौक फ़िल्मबीनों के सन्नाआना जज़्बात को बहुत ही गँवार क़िस्म का सदमा पहुँचता और अगर लड़कपन के ज़माने में पर्दे से अलग ज़िन्दगी में भी वह ऐक्ट्रेस बनी रहती और अपनी उम्र को अय्यार बज़ाज़ों के गज़ से माप कर दिखाती तो मैं उस सदमे की ताब न ला कर यक़ीनन मर गया होता।

नर्गिस ऐसे घराने में पैदा हुई थी कि उसको ला-मुहाला ऐक्ट्रेस बनना ही था...जद्दन बाई

के गले में बुढ़ापे का घुँघरू बोल रहा था। उसके दो बेटे थे, मगर उसकी सारी तवज्जह बेबी नर्गिस पर मरकूज़ थी। उसकी शक्ल-ओ-सूरत मामूली थी। गले में सुर की पैदाइश का भी कोई इमकान नहीं था, मगर जद्दन बाई जानती थी कि सुर मुस्तआर लिया जा सकता है और मामूली शक्ल-ओ-सूरत में अन्दरूनी रौशनी से जिसे जौहर कहते हैं दिलकशी पैदा की जा सकती है। यही वजह है कि उसने जान मार कर उसकी परवरिश की और काँच के निहायत ही नाज़ुक और छोटे-छोटे ज़र्रे जोड़-जोड़ कर अपना दरख़्शा-ओ-ताबांख्वाब पूरा किया।

जद्दन बाई थी। उसकी माँ थी। उसका मोहन बाबू था। बेबी नर्गिस थी। उसके दो भाई थे। इतना बड़ा कुनबा था जिसका बोझ सिर्फ़ जद्दन बाई के कन्धों पर था...मोहन बाबू एक बड़े रईस-जादह थे। जद्दन बाई के गले की तालों और मुर्कियों में ऐसे उलझे कि दीन-दुनिया का होश न रहा। ख़ूबसूरत थे। साहब-ए-सरबत थे। तालीम याफ़्ता थे। सेहतन्मद थे, मगर ये सब दौलतें, जद्दन बाई के दर पर मुफ़लिस और गदागर बनी गयीं। जद्दन बाई के नाम का उस ज़माने में डंका बजता था। बड़े-बड़े नवाब और राजे उसके मुजरों पर सोने और चाँदी की बारिश बरसाते थे। मगर जब बारिशें थम जातीं और आसमान निखर जाता तो जद्दन बाई अपने मोहन को उठाकर सीने से लगा लेती है कि इसी मोहन के पास उसका मन था।

मोहन बाबू ता दम-ए-आख़िर जद्दन बाई के साथ थे। वह उनकी बहुत इज़्ज़त करती थी। इसलिए कि राजों और नवाबों की दौलत में ग़रीबों के ख़ून की बू सूँघ चुकी थी। उसको अच्छी तरह मालूम था कि उनके इश्क़ का धारा एक ही सिम्त नहीं बहता। वह मोहन बाबू से मुहब्बत करती थी कि वह उस के बच्चों का बाप था।

ख़यालात की रौ में जाने किधर बह गया। नर्गिस को बहरहाल ऐक्ट्रेस बनाना था। चुनांचे वह बन गयी। उसके बाम-ए-उरूज तक पहुँचने का राज़ जहाँ तक मैं समझता हूँ उसका खुलूस है जो क़दम-ब-क़दम, मंज़िल-ब-मंज़िल उसके साथ रहा है।

एक बात जो उन मुलाक़ातों में ख़ासतौर पर मैंने महसूस की वह यह है कि नर्गिस को इस बात का एहसास था कि जिन लड़कियों से वह मिलती है वे जुदा क़िस्म की आब-ओ-गुल से बनी हैं। वह उनके पास आती थी। घण्टो उनसे मासूम-मासूम बातें करती थी। मगर वह उनको अपने घर मदमऊ करने में एक अज़ीब क़िस्म की झिझक महसूस करती थी। उसको शायद यह डर था कि वे उसकी दावत ठुकरा देंगी। यह कहेंगी कि वह उसके यहाँ कैसे जा सकती हैं। मैं एक दिन घर पर मौजूद था कि उसने सरसरी तौर पर अपनी सहेलियों से कहा..."अब कभी तुम भी हमारे घर आओ।"

यह सुन कर तीनों बहनों ने बड़े ही बेडेपन से एक-दूसरे की तरफ़ देखा। वे शायद यह सोच रही थीं कि हम नर्गिस की यह दावत कैसे कबूल कर सकती हैं। लेकिन मेरी बीवी चूँकि मेरे ख़यालात से वाक़िफ़ थी, इसलिए एक रोज़ नर्गिस के पैहम असरार पर उसकी दावत कबूल कर ली गयी और मुझे बताए बग़ैर तीनों उसके घर चली गयीं।

नर्गिस ने अपनी कार भेज दी थी। जब वे बम्बे के ख़ूबसूरत तरीन मकाम मैरिन ड्राइव के उस फ्लैट में पहुँची जहाँ नर्गिस रहती थी, तो उन्होंने महसूस किया कि उनकी आमद पर ख़ास इतंज़ामात किये गये थे। मोहन बाबू और दोनों जवान लड़कों को मना कर दिया गया

था कि वे घर में दाख़िल न हों, क्योंकि नर्गिस की सहेलियाँ आ रही हैं। मर्द नौकरों को भी उस कमरे में आने की इजाज़त नहीं थी, जहाँ इन मुआज्ज़िज़ मेहमानों को बैठाया गया था। ख़ुद जद्दन बाई थोड़ी देर के लिए रस्मी तौर पर उनके पास बैठी और अन्दर चली गयीं। वह उनकी मासूम गुफ़्तगूओं में हारिज नहीं होना चाहती थीं।

तीनों बहनों का बयान है कि नर्गिस उनकी आमद पर फूली न समाती थी। वह इस क़दर ख़ुश थी कि बार-बार घबड़ा-सी जाती थी। अपनी सहेलियों की ख़ातिरदारी में उसने बड़े जोश का इज़्हार किया। पास ही पेरज़ीन डेरी थी। उसके "मिल्क शेक" मशहूर थे। गाड़ी में जा कर नर्गिस ख़ुद यह मशरूब जग में तैयार करा के लाई, क्योंकि वह यह काम नौकर के सिपुर्द करना नहीं चाहती थी। इसलिए कि फिर उसके अन्दर आने का एहतमाल था।

ख़ातिरदारी के उस जोश-ओ-ख़रोश में नर्गिस ने अपने नये सेट का गिलास तोड़ दिया। मेहमानों ने अफ़सोस का इज़्हार किया तो नर्गिस ने कहा, "कोई बात नहीं बीबी गुस्से होंगी, मगर डैडी उनको चुप करा देंगे और मामला रफ़अ-दफ़अ हो जायेगा।"

मोहन बाबू को उससे और उसको मोहन बाबू से बहुत मुहब्बत थी।

"मिल्क शेक" पिलाने के बाद नर्गिस ने मेहमानों को अपना एलबम दिखाया। जिसमें उसके मुख़्तलिफ़ फ़िल्मों के स्टाइल थे। उस नर्गिस में जो उनको ये फ़ोटो दिखा रही थी और उस नर्गिस में उन तस्वीरों में मौजूद थी कितना फ़र्क़ था। तीनों, बहनें कभी उसकी तरफ़ देखतीं और कभी एलबम के अवराक़ की तरफ़ और अपनी हैरत का यूँ इज़्हार करतीं, "नर्गिस, तुम यह नर्गिस कैसे बन जाती हो।"

नर्गिस जवाब में सिर्फ़ मुस्करा देती।

मेरी बीवी ने मुझे बताया कि घर में नर्गिस की हर हरकत, हर अदा में अल्हड़पन था। उसमें वह शोख़ी, वह तेर्रारी, वह तीखापन नहीं था, जो उसके सरापा में पर्दे पर नज़र आता है। वह बड़ी ही घरेलू क़िस्म की लड़की थी। मैंने ख़ुद यही महसूस किया था। लेकिन जाने क्यों उसकी छोटी-छोटी आँखों में मुझे एक अजीब-ओ-ग़रीब क़िस्म की उदासी तैरती नज़र आती थी। जैसे कोई लावारिस लाश तालाब के ठहरे पानी पर हवा के हल्के-हल्के झोंको से इरतआश-पिज़ीर है।

यह क़तई तौर पर तय था कि शोहरत की जिस मंज़िल पर नर्गिस को पहुँचना था वह कुछ ज़्यादा दूर नहीं। तक़दीर अपना फ़ैसला उसके हक में कर के तमाम मुतालकह काग़ज़ात उसके हवाले कर चुकी थी, लेकिन फिर वह क्यों मग़मूम थी। क्या ग़ैर शऊरी तौर पर वह यह महसूस तो नहीं कर रही थी कि इश्क़-ओ-मुहब्बत का यह मसनूयी खेल खेलते-खेलते एक दिन वह किसी ऐसे लक-ओ-दक सहरा में निकल जायेगी। जहाँ सराब-ही-सराब होंगे। प्यास से उसका हलक़ सूख रहा होगा और आसमान पर छोटी-छोटी बदलियों के थनों में सिर्फ़ इसलिए दूध नहीं उतरेगा कि वह यह ख़याल करेंगी कि नर्गिस की प्यास महज़ बनावट है। ज़मीन की कोख में पानी की बूँदें और ज़्यादा अन्दर को सिमट जायेंगी। इस ख़याल से कि उसकी प्यास सिर्फ़ एक दिखावा है और यह भी हो सकता है कि ख़ुद नर्गिस यह महसूस करने लगे कि मेरी प्यास कहीं झूठी प्यास तो नहीं।

इतने बरस गुज़र जाने पर मैं अब उसे पर्दे पर देखता हूँ तो मुझे उसकी उदासी कुछ मुज़महिल सी नज़र आती है। पहले उसमें एक मुसतअद जुस्तजू थी। लेकिन अब यह जुस्तजू भी उदास और मुज़महिल है। क्यों...? इसका जवाब ख़ुद नर्गिस ही दे सकती है।

तीनों बहनें चूँकि चोरी-चोरी नर्गिस के यहाँ गयी थीं। इसलिए वे ज़्यादा देर तक उसके पास न बैठ सकीं। छोटी दो को यह अन्देशा था कि ऐसा न हो मुझे इसका इल्म हो जाय। चुनांचे उन्होंने नर्गिस से रुख़्सत चाही और वापस घर आ गयीं।

नर्गिस के मुताल्लिक़ वे जब भी बात करतीं घूम-फिर कर उसकी शादी के मसले पर आ जातीं। छोटी दो को यह जानने की ख़्वाहिश थी कि वह कब और कहाँ शादी करेगी। बड़ी जिसकी शादी हुए पाँच बरस हो चुके थे यह सोचती थी कि शादी के बाद वह माँ कैसी बनेगी।

कुछ देर तक मेरी बीवी ने नर्गिस से उस खुफ़िया मुलाक़ात का हाल छिपाये रखा। आख़िर एक रोज़ बता दिया। मैंने मसनूई ख़फ़गी का इज़हार किया, जो उसने सच समझते हुए मुझसे माफ़ी माँगी और कहा, “वाक़ई हमसे ग़लती हुई, मगर ख़ुदा के लिए अब आप इसका ज़िक्र किसी से न कीजिएगा।”

वह चाहती थी कि बात मुझ तक रहे। एक ऐक्ट्रेस के घर जाना तीनों बहनों के नज़दीक बहुत ही मायूब बात थी। वह उस “हरकत” को छिपाना चाहती थीं। चुनांचे जहाँ तक मुझे मालूम है उसका ज़िक्र उन्होंने अपनी माँ से भी नहीं किया था। हालाँकि वह बिलकुल तंग ख़याल नहीं थीं।

मैं अब तक नहीं समझ सका कि उनकी वह हरकत हरकत-ए-मज़मूम क्यों थी। अगर वे नर्गिस के यहाँ गयी थीं तो उसमें बुराई ही क्या थी। अदाकारी मायूब क्यों समझी जाती है। क्या हमारे अपने ख़ानदान के हलक़े में ऐसे अफ़राद नहीं होते जिनकी सारी उम्र फरेब कारियों और मुलम्मा कारियों में गुज़र जाती है। नर्गिस ने तो अदाकारी को अपना पेशा बनाया था। उसने उसको राज बना कर नहीं रखा था। कितना बड़ा फरेब जिसमें ये लोग मुब्तिला रहते हैं।

इस मज़मून के आगाज़ में मैंने एक ख़त का कुछ हिस्सा नक़ल किया है जो मुझे तसनीम सलीम ने लिखा था। अब उसकी तरफ़ लौटता हूँ। दरअसल सारी बात ही उसी से चली थी।

चूँकि मुझे नर्गिस को उसके घर में मिलने का इश्तियाक़ था। इसलिए मैं मसरूफ़ होने के बावजूद मिस्टर सलीम और उनके मसाहबों के साथ मैरिन ड्राइव चल पड़ा। चाहिए तो यह था कि मैं फ़ोन के ज़रिये से जद्दन बाई को अपनी आमद से मतलअ कर देता और यह भी मालूम कर लेता कि नर्गिस फ़ारिग़ भी है या नहीं। लेकिन मैं आम ज़िन्दगी में भी चूँकि ऐसे तकल्लुफ़ात का क़ायल नहीं। इसलिए बग़ैर इत्तिला दिये वहाँ जा धमका। जद्दन बाहर बरामदे में बैठी सरौते से छालिया काट रही थीं। मुझे देखा तो ब आवाज़ बुलन्द कहा...“ओह मंटो ...आओ। भाई आओ।” फिर नर्गिस को आवाज़ दी...“बेबी...तुम्हारी सहेलियाँ आयी हैं।”

मैंने क़रीब जा कर उसे बताया कि मेरे साथ सहेलियाँ नहीं “सहेले” हैं। जब मैंने नवाब छतारी के दामाद का ज़िक्र किया तो उसका लहजा बदल गया। “बुला लो उन्हें।” नर्गिस दौड़ी-दौड़ी आयी, तो उससे कहा...“तुम अन्दर जाओ बेबी मंटो साहब के दोस्त आये हैं।”

जद्दन बाई ने मेरे दोस्तों की कुछ इस अन्दाज़ से आओ-भगत की जैसे वे मकान देखने और पसन्द करने आये थे। वह बेतकल्लुफ़ी जो मेरे लिए मख़सूस थी ग़ायब हो गयी। बैठो तशरीफ़ रखिए में तब्दील हो गया। क्या पियोगे। क्या नोश फ़रमाइएगा बन गया। तुम आप हो गया और मैं ख़ुद को चुग़द महसूस करने लगा।

मैंने अपनी और अपने दोस्तों की आमद का मुद्दआ बयान किया, तो जद्दन बाई ने बड़े ही पुर-तसन्नो अन्दाज़ में मुझसे मुख़ातिब होते हुए मेरे साथियों से कहा...“बेबी से मिलना चाहते हैं...क्या बताऊँ कई दिनों से ग़रीब की तबीयत नासाज़ है। दिन-रात की शूटिंग ने उसे बेहद मुज़महिल कर दिया है। बहुत मना करती हूँ कि एक रोज़ आराम कर लो। मगर शौक़ ऐसा है कि नहीं सुनती। महबूब ने भी कहा कि बेटा कोई हर्ज नहीं, तुम रेस्ट कर लो मैं शूटिंग बन्द कर देता हूँ। मगर न मानी...आज मैंने ज़बरदस्ती रोक लिया...ज़ुकाम से निढाल हो रही है ग़रीब!”

यह सुन कर मेरे दोस्तों को जाहिर है बहुत मायूसी हुई। नर्गिस की एक झलक ने टैक्सी में बैठे-बैठे देख चुके थे और उसको मुफ़स्सल तौर पर देखने के लिए बेताब थे। जब उनको मालूम हुआ कि उसकी तबीयत नासाज़ है, तो उन्हें बड़ी कोफ़्त हुई। जद्दन बाई इधर-उधर की बातें किये जाती थीं जिनसे उनको कोई दिलचस्पी न थी। मैं साफ़ देख रहा था कि वे थोड़ी देर के बाद जमाइयाँ लेने लगेंगे और मुझे यह भी मालूम था कि नर्गिस की नासाज़ी-ए-तबीयत का बहाना महज़ रस्मी है। चुनांचे मैंने जद्दन बाई से कहा...“बेबी को ज़हमत तो होगी मगर ये इतनी दूर से आये हैं। ज़रा बुला लीजिए।”

अन्दर तीन-चार मर्तबा कहलवाने के बाद नर्गिस आयी। सबने उठकर ताजीमन उसे सलाम किया। मैं बैठा रहा। नर्गिस का दाख़िला फ़िल्मी था। उसका बैठना उठना फ़िल्मी था। उसकी गुफ़्तगू फ़िल्मी थी जैसे सीट पर मुकाल में बोल रही हो।

और मेरे साथियों के सवाल-जवाब बड़े ही नव्वाबाना क़िस्म के ऊट-पटाँग थे।

“आपसे मिल कर बड़ी मसर्रत हुई।”

“जी हाँ आज ही बम्बे पहुँचे हैं।”

“कल-परसों वापस चले जायेंगे।”

“आप माशा अल्लाह इस वक़्त हिन्दोस्तान की चोटी की अदाकारह हैं।”

“आपके हर फ़िल्म का हमने पहला शो देखा है।”

“यह तस्वीर जो आपने दी है मैं इसे अपने एलबम में लगाऊँगा।”

उस दौरान में मोहन बाबू भी आ गये। मगर वह ख़ामोश बैठे रहे। कभी-कभी अपनी बड़ी-बड़ी ख़ूबसूरत आँखें घुमा कर हम सबको देख लेते और फिर ख़ुदा जाने किस सोच में ग़र्क़ हो जाते।

सबसे ज़्यादा बातें जद्दन बाई ने कीं। उनमें उसने मुलाक़ातियों पर बड़े वाज़ह अल्फ़ाज़

में जाहिर कर दिया कि वह हिन्दोस्तान के हर राजे और नवाब को अन्दर बाहर से अच्छी तरह जानती हैं। नर्गिस ने जितनी बातें कीं बहुत मुख़्तसर और बनावट से भरपूर थीं। उसकी हर हरकत और हर अदा से यह साफ़ मुतरश्शह था कि वह अपने मिलने वालों को ये चीज़ें प्लेट में डालकर बड़े तकल्लुफ़ से पेश कर रही है। ताकि वह उसका शुक्रिया अदा करें। वह दिली तौर पर ममनून-ओ-मुतशक्किर थे। मगर उस ओ-तशक्कुर ने नर्गिस मुतशफ़्फ़ी नहीं थी। वह ग़ालिबन जवाब में तसन्नो ही की तालिब थी।

यह मुलाक़ात कुछ बहुत ही फीकी रही, मेरे लिए भी और मेरे साथियों के लिए भी। मेरी मौजूदगी में वह खुल कर अहमकाना बातें नहीं कर सके थे और मैं उनकी मौजूदगी के बायस बहुत ही तकलीफ़-दह घुटन महसूस करता रहा था। बहरहाल नर्गिस का दूसरा रंग देखना दिलचस्पी से ख़ाली नहीं था।

सलीम अपने दोस्तों के साथ दूसरे रोज़ फिर नर्गिस के यहाँ गये। इसकी इत्तिला उन्होंने मुझे न दी। मेरा ख़याल है उस मुलाक़ात का रंग कुछ और ही होगा...नख़शब के साथ जिस जंग का ज़िक्र तसनीम ने अपने ख़त में किया है वह मुझे बिलकुल याद नहीं। हो सकता है कि वह उस वक़्त वहाँ मौजूद हों। क्योंकि जद्दन बाई को शेर-ओ-शायरी से बड़ी दिलचस्पी थी और बम्बे के अक्सर शो'रा अपना कलाम सुनाने के लिए वहाँ जाया करते थे। यह भी हो सकता है कि नख़शब से उनकी शायरी ही पर इख़तलाफ़-ए-राय के बायस हल्की सी चख़ हो गयी हो।

नर्गिस का एक और दिलचस्प रंग मैंने उस वक़्त देखा जब अशोक मेरे साथ था। जद्दन बाई कोई अपना ज़ाती फ़िल्म तैयार करने का इरादा कर रही थी। उसकी ख़्वाहिश थी कि अशोक उसका हीरो हो। अशोक हस्ब-ए-आदत अकेला जाने से घबराता था। चुनांचे वह मुझे अपने साथ ले गया।

दौरान-ए-गुफ़्तगू में कई नुक़्ते थे। कारोबारी नुक़्ते, खुशामदी नुक़्ते। ये नुक़्ते बड़े ही दिलचस्प तरीक़े पर आपस में गड्डमड्ड होते रहे। जद्दन बाई का अन्दाज़ कभी बुज़ुर्गाना होता था और कभी हम-असाना। वह कभी प्रोड्यूसर बन जाती थी और कभी नर्गिस की माँ। ऐसी माँ जो अपनी बेटी की क़द्र-ओ-क़ीमत बढ़ाना चाहती है। मोहन बाबू से कभी-कभी हाँ में हाँ मिला ली जाती थी।

लाखों रुपये का ज़िक्र आया। वह जो ख़र्च हो चुके थे, ख़र्च होने वाले थे और जो ख़र्च किये जा सकते थे। सबका हिसाब उँगलियों पर गिनवाया गया। नर्गिस का यह अन्दाज़ था कि देखो अशोक, मानती हूँ कि तुम मँझे हुए ऐक्टर हो। तुम्हारी धाक बैठी हुई है। मगर मैं भी किसी तरह कम नहीं। तुम मान जाओगे कि मैं अदाकारी के मैदान में तुम्हारा मुक़ाबला कर सकती हूँ। चुनांचे उसकी तमाम कोशिशें इस नुक़्ते पर मरकूज़ थीं। इसके अलावा कभी-कभी उसके अन्दर औरत भी बेदार हो जाती थी। उस वक़्त वह अशोक से यह कहती मालूम होती...“तुम पर हज़ारों लड़कियाँ फ़रेफ्ता हैं, लेकिन मैं इसे क्या समझती हूँ। मेरे भी हज़ारों चाहने वाले मौजूद हैं। यक़ीन न आये तो मर्द से पूछ लो।” और साथ-ही-साथ इस चैलेंज की हल्की-सी झलक भी होती “हो सकता है तुम ही मुझ पर मरना शुरू...।”

और जद्दन बाई कभी मुसालहत की तरफ़ झुक जातीं कि नहीं अशोक तुम और बेबी दोनों पर दुनिया मरती है। इसीलिए तो मैं चाहती हूँ कि तुम्हें एक साथ पेश करूँ ताकि एक क़त्ल-ए-आम हो और हम सब खूब फ़ायदा उठाएँ। कभी-कभी वह एक और अन्दाज़ इख़्तियार कर लेतीं और मुझसे मुख़ातिब होतीं...

"मंटो, अशोक इतना बड़ा ऐक्टर बन गया है, लेकिन ख़ुदा की क़सम बहुत ही नेक आदमी है। बड़ा कम-गो बड़ा ही शर्मीला...खुदा उम्र दराज़ करे। मैं जो फ़िल्म शुरू कर रही हूँ, उसमें अशोक के लिए ख़ास तौर पर मैंने कैरेक्टर लिखवाया है। तुम सुनोगे तो ख़ुश हो जाओगे।"

मैं यह कैरेक्टर सुने बग़ैर ही ख़ुश था। इसलिए कि जद्दन बाई का कैरेक्टर ख़ुद बहुत ही दिलचस्प था और नर्गिस जो रोल अदा कर रही थी वह तो और भी ज़्यादा दिलचस्प था। मेरा ख़याल है अगर पर्दे पर वे हालात पेश किये जाते और उससे कहा जाता कि अशोक से मिलकर तुम्हें ऐसी गुफ़्तगू करना है तो वह कभी इतनी कामयाब न होती जितनी कि वह उस वक़्त थी।

बातों-बातों में सुरय्या का ज़िक्र आया तो जद्दन बाई ने नाक-भौं चढ़ाकर उसमें और उसके सारे ख़ानदान में कीड़े डालने शुरू कर दिये। सुरय्या की ऐब-जोयी वह एक फ़र्ज़ के तौर पर करती थीं। उसका गला ख़राब है...बे-सुरी है। बे-उस्तादी है। दाँत बड़े वाहियात हैं। उधर सुरय्या के यहाँ जाओ तो नर्गिस और जद्दन बाई पर अमल-ए-जर्राही शुरू हो जाता था। सुरय्या की नानी जो हक़ीक़त में उसकी माँ थी हुक़्क़े के बते उड़ा-उड़ा कर दोनों को ख़ूब कोसती थीं। नर्गिस का ज़िक्र आता तो वह बुरा-सा मुँह बनाकर मीरासनों के अन्दाज़ में जुगत करतीं। मुँह देखो जैसे गला-सड़ा पपीता होता है।

मोहन बाबू की ख़ूबसूरत और बड़ी-बड़ी आँखें हमेशा-हमेशा के लिए मुँद चुकी हैं। जद्दन अपने दिल की बक़ाया हसरतें और तमन्नाएँ लिये मनों मिट्टी के नीचे दफ़्न हैं। उसकी बेबी, नर्गिस तसन्नो और बनावट के आख़री ज़ीने पर पहुँचकर मालूम नहीं ऊपर देख रही है या उसकी उदास-उदास आँखें नीचे सबसे पहले जीने को देख रही हैं, जब उसने घुटनियों चलना सीखा था। वह ख़ीरा-कुन रौशनी में तारीक-तरीं साये की तलाश में है या तारीक-तरीं साये में रौशनी की नन्ही-सी किरन टटोल रही है?...रौशनी और साये का ताना-बाना ही ज़िन्दगी है और उस ताने-बाने की अक्कासी फ़िल्मी ज़िन्दगी जिसमें कभी ऐसा पेच, ऐसा ख़म भी आ जाता है जब रौशनी-रौशनी रहती है न साया-साया।

नूरजहाँ

मैंने शायद पहली मरतबा नूरजहाँ को फ़िल्म ‘ख़ानदान’ में देखा था। उस ज़माने में वह बेबी थी, हालाँकि पर्दे पर वह हर्गिज़-हर्गिज़ इस क़िस्म की चीज़ मालूम नहीं होती थी। उसके जिस्म में वे तमाम रेखायेँ, वे तमाम लहरिए मौजूद थे, जो एक जवान लड़की के जिस्म में हो सकते हैं, और जिनकी वह ज़रूरत पड़ने पर नुमायश कर सकती है।

नूरजहाँ उन दिनों फ़िल्म देखने वाले लोगों के लिए एक फ़ितना थी। लेकिन मुझे उसकी शक्ल-ओ-सूरत में ऐसी कोई चीज़ नज़र न आयी। एक फ़क़त उसकी आवाज़ क़यामतख़ेज़ थी। सहगल के बाद मैं नूरजहाँ के गले से मुतास्सिर हुआ। इतनी साफ़-शफ़्फ़ाफ़ आवाज़, मुर्कियाँ इतनी स्पष्ट, खरज इतना हमवार, पंचम इतना नुकीला। मैंने सोचा अगर यह लड़की चाहे तो घण्टों एक सुर पर खड़ी रह सकती है, उस तरह जिस तरह बाज़ीगर तने हुए रस्से पर बग़ैर किसी कम्पन के खड़े रहते हैं।

नूरजहाँ की आवाज़ में अब वह लोच, वह रस, बचपना, वह मासूमियत नहीं रही, जो उसके गले की विशेषता थी, लेकिन फिर भी ‘नूरजहाँ’ नूरजहाँ है। यों लता मंगेशकर की आवाज़ का जादू आज हर जगह चल रहा है, पर कभी नूरजहाँ की आवाज़ फ़िज़ा में बुलन्द हो, तो कान उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

नूरजहाँ के बारे में बहुत कम आदमी जानते हैं कि वह राग विद्या उतना ही जानती है, जितना कोई उस्ताद। वह ठुमरी गाती है, ख़्याल गाती है ध्रुपद गाती है और ऐसा गाती है कि गाने का हक़ अदा करती है। संगीत की शिक्षा तो उसने यक़ीनन हासिल की थी कि वह ऐसे घराने में पैदा हुई, जहाँ का माहौल ही ऐसा था, लेकिन एक चीज़ ख़ुदादाद भी होती है। संगीत की शिक्षा से किसी का सीना भरा हुआ हो, मगर गले में रस न हो तो आप समझ सकते हैं कि ख़ाली-ख़ूली शिक्षा सुनने वालों पर क्या असर कर सकेगी।

नूरजहाँ के पास इल्म भी था और ख़ुदा की दी हुई चीज़ भी, जिसे गला कहते हैं। ये दोनों चीज़ें मिल जायें तो क़यामत का बरपा होना लाज़िमी है।

मैं यहाँ आपको एक दिलचस्प बात बताऊँ कि वे लोग जिन पर ख़ुदा की मेहरबानी होती है, उससे नाजायज़ फ़ायदा भी उठाते हैं। मेरा मतलब अभी आप पर साफ़ हो जायेगा।

चाहिए तो यह कि जो चीज़ ख़ुदा ने दी हो, उसकी हिफ़ाज़त की जाये ताकि वह ख़राब न हो। लेकिन मैंने अक्सर देखा है कि लोग उसकी परवाह नहीं करते। बल्कि जाने-अनजाने पूरी कोशिश करते हैं कि वह तबाह-ओ-बरबाद हो जाये।

शराब गले के लिए सख़्त-ग़ैर-मुफ़ीद है। लेकिन सहगल मरहूम सारी उम्र ख़ूब पीते रहे। खट्टी और तेल की चीज़ें गले को तबाह करने वाली हैं, यह कौन नहीं जानता, मगर नूरजहाँ पाव-पाव भर तेल का अचार खा जाती हैं और लुत्फ़ की बात यह है कि जब उसे फ़िल्म के

लिए गाना होता है तो वह ख़ास बन्दोबस्त करके पाव भर अचार खायेगी। इसके बाद बर्फ़ का पानी पियेगी। फिर माइक्रोफ़ोन के पास जायेगी। उसका यह कहना है कि इस तरह आवाज़ निखर जाती है।

यूँ आवाज़ क्यों कर निखरती है। गला कैसे साफ़ होता है, इसके बारे में नूरजहाँ ही जानती है। यूँ मैंने अशोक कुमार को भी बर्फ़ इस्तेमाल करते देखा है। जब उसे गाना रिकार्ड करना होता है तो सारा वक़्त बर्फ़ के टुकड़े चबाता रहता है।

जब तक रिकॉर्ड ज़िन्दा है, सहगल मरहूम की आवाज़ कभी नहीं मर सकती। इसी तरह नूरजहाँ की आवाज़ भी एक अर्से तक ज़िन्दा रहेगी और आने वाली नस्लों के कानों में अपना शहद टपकाती रहेगी।

नूरजहाँ को मैंने सिर्फ़ पर्दे पर देखा था। मैं उसकी शक्ल-ओ-सूरत और अदाकारी का नहीं, उसकी आवाज़ पर मोहित था। वह कम उम्र थी, इसलिए मुझे हैरत थी कि वह क्योंकर इतने दिलफ़रेब तरीक़े पर गा सकती है। उन दिनों दो आदमियों का दौर-दौरा था, मरहूम सहगल का और नूरजहाँ का।

यूँ तो उन दिनों ख़ुरशीद छाई हुई थी। शमशाद के भी चर्चे थे, मगर नूरजहाँ की आवाज़ में सबकी आवाज़ दब गयी।

सुरैया बाद की पैदावार है। मुझे अफ़सोस है कि सहगल और सुरैया इकट्ठे फ़िल्म में पेश हुए, लेकिन नूरजहाँ और वे दोनों अलग-अलग रहे। मालूम नहीं, प्रोड्यूसरों के दिमाग़ में उनको एक जगह लाने का ख़याल पैदा न हुआ या किसी और वजह से प्रोड्यूसर उनको एक फ़िल्म में कास्ट न कर सके। बहरहाल मुझे इसका अफ़सोस है और हमेशा रहेगा। अगर वे दोनों आमने-सामने होते तो संगीत की दुनिया में निहायत खुशगवार इंक़लाब पैदा होता।

नूरजहाँ से मेरी पहली मुलाक़ात कैसे हुई, कब हुई, कहाँ हुई, यह एक लम्बी दास्तान है...मैं कई बरस बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में रह कर कुछ कारणों से उचाट मन हो कर दिल्ली चला गया। वहाँ मैंने ऑल इंडिया रेडियो में मुलाज़मत कर ली। मगर यहाँ से भी दिल उचाट हो गया। बम्बई से “मुसव्विर” के एडीटर नज़ीर लुधियानवी के अनगिनत पत्र आये कि तुम वापस चले आओ। ‘ख़ानदान’ के डायरेक्टर शौकत हुसैन रिज़वी यहाँ आये हुए हैं और मेरे पास ठहरे हैं, उनकी ख़्वाहिश है कि तुम उनके लिए एक कहानी लिखो।

मैं दिल्ली छोड़ कर चला गया। यह उस ज़माने की बात है, जब क्रिप्स मिशन फ़ेल हो चुका था। मैं ग़ालिबन 7 अगस्त सन् 40 को बम्बई पहुँचा। शौक़त से मेरी पहली मुलाक़ात 17-एडल्फ़ी चेम्बर्ज़, क्लेयर रोड पर हुई, जो दफ़्तर भी था और रिहायशी मकान भी।

बड़ा बाँका-छबीला नौजवान था। गोरा रंग, गालों पर सुर्ख़ी। महीन-महीन जॉन गिलबर्ट स्टाइल की मूँछें। घुँघराले बाल। लम्बा क़द। बहुत ख़ुश-पोश। बेदाग़ पतलून। शिकनों से बेनियाज़ कोट। टाई कि गिरह निहायत उम्दा। चाल में लटक। हम पहली मुलाक़ात ही में घुल-मिल गये।

मैंने उसको बहुत साफ़-सच्चा इंसान पाया। मैं दिल्ली से अपने साथ अपने पसन्दीदा सिगरेटों यानी क्रेवन-ए का काफ़ी स्टॉक ले कर आया था। जँग छिड़ी हुई थी। इसलिए बम्बई

में यह सिगरेट क़रीब-क़रीब नायाब थे। शौकत ने मेरे पास बीस-पचीस डिब्बे और पचास के क़रीब डिब्बियाँ देखीं तो बहुत ख़ुश हुआ।

हम दोनों का कयाम वहीं 17-एडल्फ़ी चेम्बर्ज़ में था। दो कमरे थे, जहाज़ी साइज़ के, एक में दफ़्तर था, दूसरे में रिहायशी मामला। मगर हम रात को दफ़्तर में सोते थे। मिर्ज़ा मुशर्रफ़ वग़ैरा आ जाते थे। वे चारपाइयाँ बिछा देते थे।

जब तक शौक़त वहाँ रहा, बड़े हंगामे रहे। क्रेवन-ए के सिगरेट और 'नासिक' की हिरन मार्का व्हिस्की, जो बड़ी वाहियात थी, लेकिन उसके सिवा और कोई चारा ही नहीं था। शौक़त "ख़ानदान" के बाद गो बहुत बड़ा डायरेक्टर बन गया था, मगर लाहौर से बम्बई पहुँचने और वहाँ कुछ देर रहने के दौरान में वह सब कुछ ख़र्च हो चुका था, जो उसने लाहौर में फ़िल्म की हंगामी और ख़र्चों से भरी ज़िन्दगी गुज़ारने के बाद बचा कर जोड़ा था...और मेरे पास तो सिर्फ़ चन्द सौ थे, जो हिरन मार्का व्हिस्की में ग़र्क़ हो गये।

बहरहाल किसी-न-किसी हीले गुज़र होता रहा। वह वक़्त बहुत नाज़ुक था। मैं सात अगस्त को वहाँ पहुँचा और नौ अगस्त की सुबह को जब मैंने कहीं टेलीफ़ोन करने की कोशिश की तो लाइन "डैड" यानी मुर्दा थी। बाद में पता चला कि कांग्रेसी लीडरों की गिरफ़्तारी चूँकि अमल में आ रही थी, इसलिए एहतियातन टेलीफ़ोन का सारा सिलसिला काट दिया गया था।

गांधी जी, जवाहर लाल नेहरू और अबुल कलाम आज़ाद वग़ैरा सब गिरफ़्तार कर के किसी नामालूम जगह स्थानान्तरित कर दिये गये। शहर की फ़िज़ा बिलकुल ऐसी थी, जैसी भरी बन्दूक। बाहर निकलने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। कई दिन हम हिरन मार्का शराब पी कर वक़्त काटते रहे। इस दौरान में फ़िल्म इण्डस्ट्री में भी इंकलाब बरपा हो चुका था। हालात चूँकि ग़ैर यक़ीनी थे, इसलिए किसी नये फ़िल्म की तैयारी कौन करता। चुनांचे जिन लोगों से शौक़त की बातचीत हो रही थी, एक अनिश्चित समय के लिए खटाई में पड़ गयी और हम नज़ीर लुधियानवी के यहाँ पके हुए बदमज़ा खाने खा कर लम्बी तान कर सोते रहे। लेकिन फिर भी कभी-कभार ज़िन्दगी के आसार पैदा हो जाते और हम कहानियों के बारे में सोचना शुरू कर देते थे।

उस दौरान में मुझे मालूम हुआ कि नूरजहाँ भी बम्बई में है...लेकिन ठहरिए मैं आपको बताऊँ कि मुझे कैसे मालूम हुआ; मेरी याददाश्त जवाब दे गयी थी। असल में मुझे यह आठ अगस्त ही को मालूम हो गया था जबकि मेरी मुलाक़ात शौकत से नहीं हुई थी।

मुझे माहिम जा कर अपने चन्द रिश्तेदारों से मिलना था। इसके अलावा मुझे एक रेडियो आर्टिस्ट समीना का पता लेना था। (बाद में कृष्ण चन्द्र से जिसके मरासिम रहे।) उस लड़की को मैंने ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली से बम्बई भेजा था कि उसको फ़िल्म में काम करने का शौक़ था। मैंने उसको पृथ्वीराज और ब्रज मोहन के नाम परिचय पत्र लिख कर दे दिये थे। अब मैं यह मालूम करना चाहता था कि वह फ़िल्मी दुनिया में दाख़िल हो चुकी है या नहीं... लड़की ज़हीन थी, किरदार उसका बहुत अच्छा था। संवाद बहुत रवानी के साथ अदा करती थी, शक्ल-सूरत की भी ख़ासी थी। इसलिए मुझे यक़ीन था कि वह कामयाब हो गयी होगी।

मुझे पता चला कि वह शिवाजी पार्क में कहीं रहती है, मगर यह इतनी बड़ी जगह है कि समीना ख़ातून का पता लगाना बहुत मुश्किल था। मैं चुनांचे निज़ामी साहब के यहाँ रवाना हो गया, जो पास ही कैडिल रोड पर रहते थे। मुझे उनका पता मालूम था कि वे अक्सर मुझे खत लिखते रहते थे। ये वही निज़ामी हैं, जिन्होंने मुमताज़ शान्ती को सिखाया। जिनके पास वली साहब बरसों पड़े रहे और आख़िर में मुमताज़ शान्ती को निज़ामी साहब के बताए हुए उसूलों ही के मातहत ले उड़े। ये वहीं निज़ामी साहब हैं, जिनकी बीवी गीता निज़ामी के नाम से फ़िल्मी दुनिया में मशहूर हुई और जिसने निज़ामी साहब को लात मार कर पै-दर-पै कई शादियाँ कीं। अदालतों में जिसके कई मुक़दमे चले और जो अब एक नयी ख़ूबसूरत लड़की के साथ डांस पार्टी बना कर शहर-ब-शहर पाकिस्तान का प्रचार कर रहे हैं।

निज़ामी साहब से मेरी मुलाक़ातें सिर्फ़ खतों तक सीमित थीं और वे भी, जो बड़े रस्मी थे। मैंने उनको पहली मरतबा उनके फ़्लैट पर देखा। मैं अगर उस मुलाक़ात को बयान करूँ तो मेरा ख़याल है दस-पन्द्रह सफ़े उसकी नज़र हो जायेंगे। इसलिए मैं संक्षेप से काम लूँगा।

निज़ामी साहब, जो क धोती और बनियान पहनते थे, मुझे बड़े तपाक से मिले। उन्होंने मेरे आने का मक़सद पूछा, जो मैंने अर्ज़ कर दिया। आपने कहा, “समीना ख़ातून अभी आपके क़दमों में हाज़िर हो जायेगी।”

उनका एक मरियल क़िस्म का हिन्दू मैनेजर था। उसको आपने हुक्म दिया कि मंटो साहब के लिए फ़ौरन समीना ख़ातून को हाज़िर करो। यह हुक्म देने के बाद उन्होंने मेरी तरफ़ ध्यान किया और कहा कि वे मेरे लिए हर क़िस्म की ख़िदमत के लिए हाज़िर हैं। चुनांचे उन्होंने फ़ौरन ज़बानी तौर पर मेरे लिए एक उम्दा फ़्लैट, बेहतरीन फ़र्नीचर और एक अदद कार का बन्दोबस्त कर दिया।

ज़ाहिर है कि मैं बहुत ख़ुश हुआ। चुनांचे मैंने मुनासिब और मौज़ूँ अल्फ़ाज़ में उनका शुक्रिया अदा किया, जिसकी उनको बिलकुल ज़रूरत नहीं थी इसलिए कि वह मेरे अफ़सानों के प्रशंसक थे।

पाठकों से मुझे यह कहने की ज़रूरत नहीं कि निज़ामी साहब ज़बानी जमा-ख़र्च के बादशाह हैं।

निज़ामी कुछ भी हों। लोग उसे भड़वा कहते हैं, कंजर कहते हैं। कुछ भी हो, मुझे उसकी चौहदी मालूम नहीं, लेकिन मेरी जानकारी यह कहती है कि वह एक संघर्षशील इंसान है। वह अपने फ़न में पूरी-पूरी महारत रखता है। मैंने उस रोज़ यानी पहली मुलाक़ात के दिन देखा कि मुमताज़ शान्ती पर उसका इतना रोब-दाब था कि किसी बाप का भी नहीं हो सकता, और वली साहब उसके सामने यूँ झुकते थे, जैसे कोई साईस।

वह उस घर का बादशाह था, जिसको सब ख़िराज अदा करते थे। उसका काम सिर्फ़ प्रोड्यूसरों को खाने और शराब की दावतें देना था, ब्लैक मार्केट से पेट्रोल ख़रीदना था और मुमताज़ शान्ती को कामयाब होने के गुर बताना था कि देखो, अगर तुम यूँ मुस्कराओगी तो फ़लाँ प्रोड्यूसर से तुम्हें कॉण्ट्रेक्ट ले देने ज़िम्मा मैं लेता हूँ। अगर तुम फ़लाँ सेठ से यूँ हाथ मिलाओगी तो इसका मतलब है कि दस हज़ार रुपये उसी रात हमारी जेब में होंगे।

मैं वहाँ बैठा था और हैरान हो रहा था कि मैं किस दुनिया में आ निकला हूँ। वहाँ हर चीज़ बनावटी थी। वली साहब, निज़ामी साहब के हुक्म पर उनका स्लीपर उठा के लाये और झुक कर उनके क़दमों में रख दिये। इसमें बनावट थी। ख़ुदा की क़सम यक्सर बनावट थी।

और मुमताज़ शान्ती दूसरे कमरे में मामूली लिबास में, निहायत मामूली लिबास में, खिड़की के पर्दों के लिए कीलें ठोंक रही थी और निज़ामी कह रहा था..."मंटो साहब। यह बच्ची निहायत सादा है। फ़िल्म लाइन में रह कर भी इसे आस-पास की दुनिया का कुछ इल्म नहीं। मर्दों की तरफ़ तो यह निगाह उठा कर नहीं देखती और यह सब मेरे सिखाने-पढ़ाने का नतीजा है।"

मेरा दिल कहता था कि यह सब फ़्रॉड है, यह सब जाल है, लेकिन मुझे निज़ामी साहब की उनके मुँह के सामने तारीफ़ करनी पड़ी।

लेकिन बात नूरजहाँ की हो रही थी।

मुमताज़ शान्ती को सीधे रास्ते पर लगाने और उसको सदाचार की शिक्षा देने के बारे में बातें हो रही थीं तो निज़ामी साहब ने नूरजहाँ का ज़िक्र किया और मुझे बताया कि इन दिनों वह भी उनके ज़ेर-ए-साया है और मुमताज़ शान्ती की तरह शिक्षा हासिल कर रही है। आपने कहा, "मंटो साहब, अगर यह लड़की ज़्यादा देर लाहौर में रहती तो इसका बेड़ा ग़र्क़ हो जाता। मैंने इसे यहाँ अपने पास बुला लिया है और समझाया है कि देखो बेटा, सिर्फ़ फ़िल्म स्टार बनने से कुछ नहीं होगा। कोई सहारा भी होना चाहिए। अव्वल तो शुरू में इश्क़ लड़ाने की ज़रूरत नहीं। इधर-उधर, दोनों तरफ़ से ख़ूब कमाओ। जब बैंक में तुम्हारा काफ़ी रुपया जमा हो जाये तो किसी ऐसे शरीफ़ आदमी से शादी कर लो, जो सारी उम्र तुम्हारा ग़ुलाम बन के रहे। आपका क्या ख़याल है मंटो साहब। आप तो बड़े समझदार हैं।"

मेरी सारी अक्लमन्दी तो निज़ामी साहब के फ़्लैट में दाख़िल होते ही नीचे फ़ुटपाथ पर भाग गयी थी। मैं क्या जवाब देता। बस, कह दिया कि आप जो कर रहें हैं, भलाई के उलट क्योंकर हो सकता है। वे बहुत ख़ुश हुए चुनांचे उन्होंने आवाज़ दे कर नूरजहाँ को बुलाया, मगर उसी वक़्त टेलीफ़ोन की घंटी बजी और चन्द लम्हात के बाद नूरजहाँ की आवाज़ किसी कमरे से आयी, "अभी आती हूँ। कमाल साहब का फ़ोन आया है।"

निज़ामी साहब होंटों-ही-होंटों में मुस्कराए। ये कमाल, सैयद कमाल हैदर अमरोही हैं...'पुकार' की शोहरत वाले।

निज़ामी साहब मुझसे मुख़ातिब हुए, "मैं अर्ज़ कर रहा था कि सहारा होना चाहिए"... तो नूरजहाँ के लिए कमाल अमरोही से बेहतर सहारा और कौन हो सकता है। लेकिन मैं उससे साफ़-साफ़ कह चुका हूँ कि शादी-वादी का मामला ग़लत है। बस, अपना उल्लू सीधा किये जाओ। कमाल कमा सकता है। उसकी आधी कमाई अगर नूरजहाँ को मिल जाया करे तो क्या हर्ज़ है...असल में मंटो साहब। इन ऐक्ट्रेसों का रुपया कमाने के गुर आने चाहिए।"

मैंने मुस्करा कर कहा, "आप गुरु जो मौजूद हैं।"

निज़ामी ख़ुश हो गया और उसने मुझे फ़ौरन एक फ़र्स्ट क्लास लेमन स्कवॉश पिलाया।

बस यहाँ...निज़ामी साहब के फ़्लैट में जहाँ नूरजहाँ की साइंटिफ़िक तरीक़े पर ट्रेनिंग हो

रही थी, उसको वे तमाम चलित्तर ख़ास निज़ामी साहब की निगरानी में सिखाये जा रहे थे—मेरी नूरजहाँ से सरसरी मुलाक़ात हुई और मेरी प्रतिक्रिया यही थी कि यह लड़की, जो अपनी जवानी की मंज़िलें बड़ी तेज़ी से तय कर रही है और जिसके होंटों पर मुस्कराहट और हँसी तिजारती रंग इख़्तियार कर रही है और मोटापे की तरफ़ मायल है, अपने उस्ताद की बेहतरीन शार्गिद साबित होगी।

लेकिन कुदरत को कुछ और ही मंज़ूर था।

निज़ामी की दरअसल यह ख़्वाहिश थी कि जिस तरह मुमताज़ शान्ती उसके कब्ज़े में है और उसका रोब-दाब तसलीम करती है, उसी तरह वह बूढ़ी नायिका की तरह नूरजहाँ को भी अपनी नोची बना लें। मुमताज़ शान्ती की सारी आमदनी निज़ामी की तहवील में रहती थी। ज़ाहिर है कि मुमताज़ शान्ती के मुक़ाबले में नूरजहाँ की क़द्र-ओ-क़ीमत बहुत ज़्यादा थी और निज़ामी का होशियार दिमाग़ अच्छी तरह जानता था कि नूरजहाँ का भविष्य है। चुनांचे वह उसको अपने जाल में फँसाने की तैयारियाँ मुकम्मल कर रहा था कि सैयद शौक़त हुसैन रिज़वी बम्बई पहुँच गया। वह शौक़त, वह रिज़वी, जिससे नूरजहाँ का इश्क़ पंचोली स्टूड्यूज़ में लड़ चुका था। मुक़दमेबाज़ी भी हो चुकी थी और बचने की ख़ातिर नूरजहाँ ने अदालत में यह बयान दिया था कि शौक़त साहब से उसका कोई नाजायज़ ताल्लुक नहीं, वह तो उन्हें अपना भाई समझती है।

नूरजहाँ का वह अदालती भाई अब बम्बई में मौजूद था। लम्बे-चौड़े बम्बई में, जो हिन्दुस्तान की फ़िल्मी दुनिया का हॉलीवुड था।

मैंने शौकत से बात की कि मैं नूरजहाँ से मिला हूँ। उस वक़्त मुझे उनके रोमांस के बारे में कुछ मालूम नहीं था, न मैं यह जानता था कि दोनों के सम्बन्ध तनावपूर्ण हैं। मैंने सिर्फ़ बातों-बातों में उसको बताया था कि नूरजहाँ से मेरी मुलाक़ात निज़ामी साहब के घर में हुई है। हिरन मार्का शराब का गिलास ज़ोर से तिपायी पर रख कर उसने बड़े तीखेपन से कहा, “लानत भेजो उस पर।”

मैंने मज़ाक़ के तौर पर कहा, “मैं हज़ार बार इसके लिए तैयार हूँ। मगर भई, वह तो तुम्हारे ‘ख़ानदान’ की ‘हीरोइन’ रह चुकी है।”

शौकत ज़हीन है। फ़ौरन समझ गया कि मैं लफ़्ज़ “ख़ानदान” पर खेला हूँ और मैंने उसे दो अर्थों में इस्तेमाल किया है। वह मुस्करा दिया। “मंटो, तुम बहुत शरीर हो। लेकिन बात यह है कि मैं उसके बारे में कोई बात नहीं सुनना चाहता। मुझे मालूम है कि वह बम्बई में है। साली मेरे पीछे-पीछे आयी है। लेकिन मुझे अब उससे कोई सरोकार नहीं।”

मैंने कहा, “मैं समझ रहा था कि तुम उसके पीछे-पीछे यहाँ आये हो।”

मैंने जब उसको बताया कि वह कमाल अमरोही को टेलीफ़ोन कर रही थी और यह कि निज़ामी उन दोनों को क़रीब लाना चाहता है तो मैंने महसूस किया कि गो वह ज़ाहिर तौर पर उपेक्षा और बे-परवाही बरत रहा है, मगर अन्दरूनी तौर पर सख़्त बेचैन हो गया है। उसने फ़ौरन हिरन मार्का व्हिस्की का एक और अद्धा मिर्ज़ा मुशर्रफ़ से मँगवाया और हम रात देर तक पीते रहे।

इस दौरान में लम्बे वक़्फ़ों के बाद नूरजहाँ का ज़िक्र छिड़ जाता था। मैंने शौक़त की गुफ़्तगू से यह नतीजा हासिल किया कि वह अभी तक उसकी मुहब्बत में गिरफ़्तार है। भाई वाला मामला तो महज़ एक चाल थी। उसको वे रातें याद आ रही थीं, जब नग़्मो की नन्ही-मुन्नी शहज़ादी उसके आग़ोश में होती थी और जब ग़ालिबन दोनों एक-दूसरे से जुदा न होने की क़समें खाया करते थे।

मैंने एक दिन शौकत से पूछ ही लिया..."देखो यार, बताओ...सच्चो-सच बताओ...क्या तुम्हें नूरजहाँ से मुहब्बत नहीं है?"

शौकत ने ज़ोर से अपने सिगरेट की राख झाड़ी और किसी क़दर खिसियानेपन से कहा, "है यार...है...मगर लानत भेजो उस पर। मैं उसको आहिस्ता-आहिस्ता भूल जाऊँगा।"

लेकिन कुदरत होंटों-ही-होंटों में मुस्करा रही थी। वह जो फ़ैसला कर चुकी थी, अटल था। शौकत का कॉण्ट्रेक्ट सेठ बी.एम. व्यास से हुआ, जो उससे पहले एक फ़िल्म के लिए नूरजहाँ से अनुबन्ध कर चुका था।

अब लगे हाथों सेठ बी.एम. व्यास के बारे में भी कुछ सुन लीजिए। वह एक काइयाँ आदमी है। शुरू-शुरू में तबलची था। फिर कैमरा कुली हुआ। आहिस्ता-आहिस्ता कैमरामैन बन गया। तरक़्क़ी की और सीढ़ियाँ तय कीं तो डायरेक्शन का मौक़ा मिल गया। यहाँ से छलाँग लगायी तो प्रोड्यूसर बन गया। अब वह डायरेक्टर और प्रोडयूसर है और लाखों में खेल रहा है।

बहुत दुबला-पतला इंसान है। मुझसे भी कहीं पतला। इतना पतला कि उसे क़मीज़ के नीचे एक मोटी ऊनी बनियान पहननी पड़ती है कि उसकी पसलियाँ लोगों को नज़र न आयें, मगर बला का फुर्तीला है और बड़ा मेहनती। उसके मुक़ाबले में पहलवान थक जायेंगे, मगर वह डटा रहेगा जैसे मशक्कत उस पर असर डाल ही नहीं सकती।

उसकी एक ख़ूबी और है वह अपनी निजी पूँजी से फ़िल्म नहीं बनाता। एक फ़िल्म तैयार करके और उसको ठिकाने लगा कर वह अपने दूसरे फ़िल्म का एलान कर देता है। उस वक़्त के जितने ऊँचे सितारे होते हैं, वह अपनी कास्ट में जमा कर लेता है। कहानी का उस वक़्त नाम-ओ-निशान तक नहीं होता। कोई-न-कोई फ़ाइनेंसर उसके जाल में आ जाता है, चुनांचे उससे रुपया ले कर वह काली माता का नाम ले कर काम शुरू कर देता है।

नूरजहाँ बम्बई आयी तो उसको पता चल गया। चुनांचे उसने फ़ौरन उससे कॉण्ट्रेक्ट कर लिया। इसलिए कि वह जानता था कि 'ख़ानदान' और दूसरी फ़िल्मों की क़ाबिले-इश्क़ क़ामयाबी के बाद उसका नाम ही किसी फ़ाइनेन्सर को फाँसने के लिए काफ़ी है और जब उसको मालूम हुआ कि 'ख़ानदान' का डायरेक्टर भी बम्बई में मौजूद है तो उसकी बाछें खिल गयीं। उसने फ़ौरन अपने कारिन्दे दौड़ाए। शौकत हुसैन रिज़वी से कई मुलाक़ाते कीं और उसके साथ भी एक पिक्चर का अनुबन्ध कर लिया।

फ़िल्म क्या होगा। कैसा होगा। कहानी क्या है, यह किसी को मालूम नहीं था, मगर सेठ बी.एम. व्यास ने जब अपने फ़ाइनेन्सर को नूरजहाँ और शौकत से अपनी "सनराइज़ पिक्चर्ज़" के कॉण्ट्रेस्ट दिखाये तो जिस पूँजी की इच्छा थी, वह किसी दिक्क़त के बग़ैर

फ़ौरन मिल गयी।

कुदरत भी अजीब खेल खेलती है। न शौकत को मालूम था कि नूरजहाँ 'सनराइज़' में आ चुकी है और नूरजहाँ को भी पता न था कि उसका अदालती भाई शौकत भी उसका हमराही है। बड़ी लम्बी दास्तान है, मैं उसे मुख़्तसर करना चाहता हूँ।

एक दिन यह राज़ फ़ाश हो गया। निज़ामी बहुत घबराया कि ऐसा न हो, बना-बनाया खेल बिगड़ जाये। जो फ़िल्म शौकत को डायरेक्ट करनी थी, उसी की हीरोइन नूरजहाँ मुक़र्रर की गयी थी। दोनों का पुनर्मिलन निज़ामी के लिए बड़ा दुखदाई साबित हो सकता था। चुनांचे नूरजहाँ के अभिभावक की हैसियत से उसने सेठ व्यास से कहा कि वह हर्गिज़-हर्गिज़ इस क़िस्म का सिलसिला बर्दाश्त नहीं करेगा। मगर सेठ व्यास निज़ामी से कुछ ज़्यादा ही काइयाँ निकला कि उसने अपनी गुजराती कूटनीति से, जो पंजाबी कूटनीति के मुक़ाबले में बड़ी गहरी और धासूँ क़िस्म की होती है, निज़ामी को हमवार कर दिया। वह राज़ी हो गया कि नूरजहाँ शौकत की पिक्चर में काम करेगी और ज़रूर करेगी, चाहे दुनिया इधर की उधर हो जाये। चुनांचे वहीं दफ़्तर में दोनों एक-दूसरे से गले मिले, हाथ मिलाये और एक-दूसरे के भाई बन गये।

अब दोनों अपनी-अपनी जगह पर ख़ुश थे। सेठ व्यास इसलिए कि उसने अपना उल्लू सीधा कर लिया था और निज़ामी इसलिए कि उसने एक फ़िल्मी सेठ की कृपा हासिल कर ली और उस पर एहसान लाद दिया था। सेठ व्यास कट्टर क़िस्म का वैष्णव था, वरना वह उसे उसी रात घर बुला कर मुमताज़ शान्ती के हाथ के पके हुए मुर्ग़ और पुलाव से अपनी और उसकी दोस्ती ज़रूर सुदृढ़ करता और अगर सेठ बोतल का रसिया होता तो वह अपने मरियल मैनेजर के ज़रिये से दो अदद स्कॉच ब्लैक मार्केट से ज़रूर मँगवाता।

बहहाल, बात पक्की हो गयी। क्योंकि निज़ामी सीने पर हाथ रख कर सेठ व्यास से कह चुका था कि सेठ, अब कि तुमने मुझे भाई कह दिया है, मैं तुमको वचन देता हूँ कि मेंह हो या आँधी या तूफ़ान...तुम्हारी शूटिंग होगी तो बेबी नूरजहाँ वक़्त पर पहुँचगी।

अब एक लतीफ़ा सुनिए। बात तो ख़ैर पक्की हो गयी थी। मेरा भी सेठ व्यास से एक कहानी के लिए कॉण्ट्रेक्ट हो गया था। मैं और शौकत चुनांचे उसका विषय तलाश करने में व्यस्त थे। पेशगियाँ मिल चुकी थीं। इसलिए नासिक के हिरन मार्का व्हिस्की की बहुतायत थी। दौर-पर-दौर चलते थे। मिर्ज़ा मुशर्रफ़, चावला और सहगल (ये दोनों हज़रात अब बड़े डायरेक्टर बन चुके थे) हमारी अर्दली में होते थे। ज़रा व्हिस्की ख़त्म हुई और चावला भागे नागपाड़े। किसी और चीज़ की ज़रूरत हुई तो मिर्ज़ा मुशर्रफ़ हाज़िर थे।

लतीफ़े में से लतीफ़ा निकलता है। मिर्ज़ा मुशर्रफ़ हमारे साथ पीते थे, लेकिन अजीब बात है कि तीसरे पेग के बाद रोना शुरू कर देते। ज़ार-ओ-क़तार रोते थे। शौकत के हाथ-पाँव चूमते और वह शक-शुब्ह, जो शौक़त के दिल में उनके बारे में कभी गुज़रे भी नहीं थे, उनका ज़िक्र करते और कहते कि वे सब ग़लत हैं। इसके बाद वे रो-रोकर अपनी नयी ब्याहता बीवी को याद करने लगते। और फिर गाना सुनाना शुरू कर देते थे...यह सब फ़्रॉड यानी जाल था, मगर फ़िल्मी दुनिया में इसके सिवा और होता भी क्या है।

अब मैं असल लतीफ़े की तरफ़ आता हूँ कि वह इस मज़मून का सबसे दिलचस्प हिस्सा है।

सेठ व्यास अपने फ़िल्म की शूटिंग शुरू कर चुका था। जो सीन फ़िल्माए गये थे, उनमें नूरजहाँ नहीं थी। यानी दूसरे शब्दों में शौकत और नूरजहाँ की अभी तक सही मानों में मुलाक़ात नहीं हुई थी। एक रात नोटिस बोर्ड पर यह ऐलान चस्पाँ हो गया कि नूरजहाँ सेट पर आ रही है। उसको बाक़ायदा कम्पनी की तरफ़ से सूचित कर दिया गया था।

उसी रात को मैं घूमता-घामता शिवाजी पार्क में रफ़ीक़ ग़ज़नवी के पास चला गया। उस मशहूर गीतकार और संगीतकार के पास, जिसकी अलग-अलग टाइयों की गिरहों में अलग-अलग क़िस्म के रोमान बँधे हैं।

रफ़ीक ग़ज़नवी मेरा दोस्त है। मेरे उसके बड़े ही बेतकल्लुफ़ सम्बन्ध हैं। मैं उसके फ़्लैट पर पहुँचा तो महफ़िल जमी हुई थी। मैं बेधड़क अन्दर दाख़िल हो गया। क्या देखता हूँ कि एक सोफ़े पर उसकी ताज़ातरीन बीवी ख़ुरशीद उर्फ़ अनुराधा बैठी है और उसके साथ नूरजहाँ है। एक कुर्सी पर श्री निज़ामी जी विराजमान हैं और फ़र्श पर हमारे रफ़ीक ग़ज़नवी साहब यूँ बैठे हैं, जैसे किसी सोमनाथ पर हमले की तैयारी कर रहे हैं।

रफ़ीक़ ग़ज़नवी के बारे में मैं चन्द पंक्तियों या चन्द पृष्ठों में कुछ नहीं लिख सकता। उसकी शख़्सियत और किरदार इतना व्यापक है कि उस पर अगर कोई मोटी-सी किताब नहीं तो एक लम्बा मज़मून ज़रूर होना चाहिए। मैं अपने पाठकों से वादा करता हूँ कि यह क़र्ज़ मैं एक-न-एक दिन ज़रूर चुका दूँगा।

रफ़ीक़ मेरा दोस्त है। मैं अगर कल-कलाँ मौत की आग़ोश में चला गया और वह भी कुछ देर बाद मेरी तरह क़ब्र की आग़ोश में चला गया तो दोस्ती का हक़ कौन अदा करेगा। कौन इतने बड़े संगीतकार, इतने दिलचस्प किरदार की जीवन-कथा बयान करेगा। इंशा अल्लाह मैं करूँगा, मगर वक़्त आने पर।

ख़ैर यह विषयान्तर था...रफ़ीक़ सोमनाथ पर अपने ताज़ातरीन हमले की तैयारी कर रहा था। मैं नहीं कह सकता कि निज़ामी उससे ग़ाफ़िल था या नहीं, या नूरजहाँ को उसके इरादों का इल्म था। अल्लाह ही बेहतर जानता है।

मुझे निज़ामी से इतना मालूम हुआ था कि मुमताज़ शान्ती अभी आने वाली है। मैं हैरान था कि उधर शूटिंग होने वाली है इधर स्कॉच के दौर चल रहे हैं। निज़ामी के हाथ में गिलास था। नूरजहाँ भी हौले-हौले रंगीन पेय को अपने होंटों के ज़रिये चूस रही थी। खुरशीद उर्फ़ अनुराधा तो ख़ैर पक्के शराबियों की तरह घूँट भरती थी और रफ़ीक़...ग़ज़ना का रफ़ीक़, उस ग़ज़ना का, जिसने 'महमूद' पैदा किया था और जो एक अयाज़[1] की मुहब्बत में गिरफ़्तार था—गिलास क़ालीन पर रखे मीरासियों के लतीफ़े सुना रहा था।

मैं जब अन्दर दाख़िल हुआ तो उसने आदत के मुताबिक स्वागत के तौर पर एक भारी-भरकम गाली अपने मुँह से उगली। लेकिन फिर फ़ौरन शरीफ़ाना लब-ओ-लहज़ा इख़्तियार करके मुझसे कहा, "आइए, आइए, तशरीफ़ रखिए।" नूरजहाँ की तरफ़ देख कर उसने मुझसे कहा, "जानते हो इनको?"

मैंने जवाब दिया, “जानता हूँ।”

रफ़ीक़ चार पेग पीने के बाद आम तौर पर शराबी हो जाता है। हकलाहट भरे लहजे में उसने मुझसे कहा, “नहीं, तुम कुछ नहीं जानते मंटो...यह नूर है...नूर-ए-जहाँ है...सुरूर-ए-जाँ है। ख़ुदा की क़सम ऐसी आवाज़ पायी है कि बहिश्त में सुरीली से सुरीली आवाज़ वाली हूर भी सुने तो इसे सिन्दूर खिलाने के लिए ज़मीन पर उतर आये।”

मैं जानता था कि वह तारीफ़ के ये पुल क्यों बाँध रहा है। दरअस्ल इन पुलों के ज़रिये ही से वह नूरजहाँ के जिस्म तक पहुँचना चाहता था। मगर मैंने देखा कि नूरजहाँ को उससे कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह रफ़ीक़ की बातें सुनती थी और उसको ख़ुश करने के लिए एक नकली मुस्कराहट अपने होंटों पर पैदा कर लेती थी।

रफ़ीक़ अव्वल दर्जे का कंजूस है। मगर उस दिन उसने ग़ैर मामूली उदारता दिखलाई। बोतल में से मेरे लिए एक बहुत बड़ा पेग इनायत किया और इसरार किया कि मैं उसे एक ही घूँट में ख़त्म कर दूँ ताकि एक-दूसरा भी रहे।

सब पी रहे थे। नूरजहाँ का पेग बहुत हल्का था, जिसे वह आहिस्ता-आहिस्ता होंटों के ज़रिये से चूस रही थी, जैसे मक्खियाँ फूलों से हौले-हौले शहद चूसती हैं।

रफ़ीक़ नूरजहाँ की तारीफ़ और वाहवाही के और पुल बाँध रहा था, क्योंकि पहले पुल सब टूट गये थे कि टेलीफ़ोन की घण्टी बजी।

ख़ुरशीद उर्फ़ अनुराधा ने अपने दुबले-पतले मगर ख़ूबसूरत हाथ से टेलीफ़ोन का चोंगा उठाया और कान के ज़रिये से दूसरी तरफ़ की आवाज़ सुनी और सिटपिटा-सी गयी। फ़ौरन चोगे का मुँह बन्द कर के नूरजहाँ से मुख़ातिब हुई, “सेठ व्यास हैं।”

निज़ामी ने किसी क़िस्म की परेशानी का इज़हार न किया और कहा, “बेटा, कह दो कि नूरजहाँ यहाँ नहीं है।”

ख़ुरशीद उर्फ़ अनुराधा ने सेठ व्यास से मुनासिब-ओ-मौज़ूँ अलफ़ाज़ में कह दिया कि वह यहाँ नहीं है।

जब वह टेलीफ़ोन का सिलसिला ख़त्म हुआ तो रफ़ीक़ ने खुरशीद से कहा, “शैदाँ... जाओ, अन्दर से हार्मोनियम ले आओ...सेठ व्यास जाय जहन्नुम में।”

शैदाँ अन्दर गयी और हार्मोनियम की पेटी ले आयी। रफ़ीक़ ने उसको खोला, उसका ढकना उठाया और हवा भर के अपने ख़ास अन्दाज़ में एक सुर छेड़ा और ख़ुद ही झूमने लगा “हाय...सुभान अल्लाह...वाह।”

देर तक वह बाजे के अलग-अलग सुरों को छेड़कर “हाय सुभान अल्लाह और ‘वाह-वाह’ करता रहा...मेरा ख़याल है, रफ़ीक पर अल्लामा इक़बाल का यह मिसरा लागू होता है, “देते हैं सुरूर अव्वल, लाते हैं शराब आख़िर...।”

गाने से पहले ही रफ़ीक़ सुनने वालों को मन्त्र-मुग्ध कर देने का आदी है, मगर उस दिन उसने नहीं गाया, इसलिए कि उसका सारा ध्यान नूरजहाँ पर केन्द्रित था। एक सुर छेड़ कर उसने नूरजहाँ की तरफ़ अपनी ख़ुमार-भरी आँखों से देखा और दरख़्वास्त की, “नूर...बस, हो जाये कोई चीज़...हाय कितना प्यारा और मधुर सुर है...चलो गाओ।”

आप पर्दे पर ऐक्टर-ऐक्ट्रेसों के ड्रामे देखते हैं और उनके अभिनय से प्रभावित होते हैं... मैं आपको उस ड्रामे की एक झलक दिखाता हूँ, जो उस रोज़ वहाँ खेला गया...जीते-जागते, सौ फ़ीसद हकीकी ड्रामे की झलक।

नूरजहाँ ने हार्मोनियम सोफ़े पर रख लिया। उसके पास ख़ुरशीद उर्फ़ अनुराधा व्हिस्की का गिलास हाथ में लिये बैठी है। रफ़ीक़ ग़ज़नवी कालीन पर आलथी-पालथी मारे नूरजहाँ की तरफ़ अपनी इश्क़ पेशा आँखों से देख रहा है और गाना सुनने से पहले ही झूम रहा है। दाएँ हाथ कुर्सी पर श्री निज़ामी जी विराजमान हैं। उनके साथ ही ख़ाकसार है, जो अपना दूसरा पेग पी रहा है।

नूरजहाँ गाना शुरू करती है। ग़ालिबन पीलू की ठुमरी है—तोरे नैन काजर बिन कारे—कि एक मोटर हौले से पोर्च में रुकती है। एक साहब उसके अन्दर से निकलते हैं और सीधे अन्दर चले आते हैं...यह सेठ व्यास हैं।

एक पल के लिए सब बौखला जाते हैं। मगर निज़ामी फ़ौरन ही हालात पर काबू पा लेता है। सेठ व्यास की आमद से गोया बेख़बर वह चिल्ला कर ख़ुरशीद से कहता है, “बेटा, यह क्या ज़ुल्म कर रही हो तुम...इसे इतनी तकलीफ़ है और तुम उसे गाने के लिए मजबूर कर रही हो...देखो एक बोल गाने के बाद उसका क्या हाल हो गया है।” फिर वह नूरजहाँ से चिन्ता-भरी आवाज़ में कहता है, “लेट जाओ नूरजहाँ। लेट जाओ।” और वह आगे बढ़के उसे लिटा देता है। नूरजहाँ ज़ोर-ज़ोर से कराहना शुरू कर देती है। रफ़ीक भी उठ कर बेहद चिन्ता प्रकट करता है। निज़ामी ख़ुरशीद से मुख़ातिब होता है, किसी क़दर तेज़ लहजे में कहता है, “शैदाँ, उठ, बेटी क्या सोच रही है। जा जल्दी से गर्म पानी की बोतल ला। बड़े ज़ोर का दौरा पड़ा है।”

शैदाँ उठ कर तेज़ क़दमी से अन्दर चली जाती है। निज़ामी कराहती हुई नूरजहाँ को पुचकारता है, फिर सेठ व्यास से मुख़ातिब होता है, “भाई जान,...वह...वह तकलीफ़ है... वही, जो औरतों को हुआ करती है।”

सेठ व्यास ख़ामोश रहता है। मैं भी सकते में हूँ।

निज़ामी एक बार फिर कराहती हुई, दोहरी होती हुई, नूरजहाँ को पुचकारता है और सेठ व्यास के पास बैठ जाता है और कहता है, “कल से ग़रीब दर्द के मारे पेच-ओ-ताब खा रही है...मुझसे कहती थी—चचा जान, मुझसे शूटिंग न हो सकेगी। पर मैंने कहा, नहीं बेटा। यह बुरा शगुन है। यहाँ बम्बई में यह तुम्हारी पहली पिक्चर है और फिर शूटिंग का पहला दिन...ये भी छोड़ो। सेठ व्यास मुझे अपना भाई कह चुका है...तुम मर जाओ मगर ज़रूर जाओ... चुनांचे हम इसीलिए यहाँ आये थे कि रफ़ीक़ से थोड़ी-सी ब्राण्डी लें और उसकी कार ले कर स्टूडियो पहुँच जायें। आप कुछ फ़िक्र न करें। आपका नुक़सान मेरा नुक़सान है...नूरजहाँ अभी पहुँचती है...आप मेरे भाई हैं।”

सेठ व्यास ख़ामोश रहा...निज़ामी के सिवा और सब ख़ामोश थे। रफ़ीक़ ग़ज़नवी दाँतों से अपने नाख़ून काट रहा था। मैं गिलास हाथ में लिये सोच रहा था कि यह सब क्या है?

कहानी मेरी थी। म्यूज़िक रफ़ीक़ ग़ज़नवी दे रहा था...और सेठ व्यास, हमारा आक़ा,

ऐन मौक़े पर पहुँच गया था। जबकि हम रँग-रेलियाँ मना रहे थे। रंग-रेलियाँ ही तो थीं और क्या था। व्हिस्की का दौर चल रहा था और नूरजहाँ गा रही थी—तोरे नैन काजर बिन कारे। अच्छा-ख़ासा मुजरा हो रहा था।

निज़ामी ने सेठ व्यास से अपने ख़ास अन्दाज़ में कुछ और बातें कीं और उसे यक़ीन दिलाया कि जब दोनों एक-दूसरे को भाई कह चुके हैं तो दिलों में किसी क़िस्म के शक-शुब्हे की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए।

इतने में ख़ुरशीद गर्म पानी की बोतल ले कर आ गयी, जो नूरजहाँ के पेट पर रख दी गयी। इससे उसको कुछ सुकून हुआ। इस पर निज़ामी ने सेठ व्यास से, जो भय का बाप बना बैठा था, कहा, "आप तशरीफ़ ले चलिए, मैं और रफ़ीक़ नूरजहाँ को साथ ले कर अभी आते हैं।" फिर उसने अपने आपसे कहा, "मेरा ख़याल है ख़ुरशीद भी साथ चले। औरतें औरतों के सब मामलात जानती हैं।"

सेठ व्यास उठा और अपनी टोपी ठीक करता चला गया...सब की जान-में-जान आयी। नूरजहाँ ने अपने पेट से गर्म पानी की बोतल अलग की, जो ठण्डे पानी से भरी हुई थी, और निज़ामी से कहा, "निज़ामी चचा, आपने तो कहा था, मत जाना।"

निज़ामी संजीदा हो गया..."बेटा, वह मैंने तुम्हारे भले ही के लिए कहा था। पहले ही दिन आदमी शूटिंग पर चला जाये और प्रोड्यूसर को फेरे न कराए तो वह सिर पर सवार हो जाता है। अपनी मुमताज़ से पूछो। जब तक स्टूडियो से गाड़ी न आये, मजाल है जो वह शूटिंग में जाये और फिर जब गाड़ी भी आती है तो मैं उसे कम-से-कम एक घण्टा नीचे खड़ी रखता हूँ...राय बहादुर चूनी लाल मेरे इतने दोस्त हैं, मगर मैं उनकी भी कोई परवाह नहीं करता—बाज़ दफ़ा तो ऐसा भी हुआ कि वे ख़ुद अपनी गाड़ी में मुमताज़ को लेने आये—बहरहाल, अब सब ठीक है। ख़ुद आया है यहाँ चल कर और फिर तुम बीमार हो और बीमारी ही हालत में जा रही हो...सेठ व्यास को इसका ख़याल रहेगा।"

निज़ामी ने कुछ देर और प्रोड्यूसर और आर्टिस्ट के बाहमी रिश्ते की बारीकियाँ बयान कीं और वे तमाम गुर बताए, जो आर्टिस्ट को इस्तेमाल करने चाहिए। इसके बाद बातचीत आहिस्ता-आहिस्ता शौकत हुसैन रिज़वी की तरफ़ मुड़ गयी। निज़ामी अपनी बातों से ज़बरदस्ती नूरजहाँ के दिल-ओ-दिमाग़ में ख़याल ठूँसना चाहता था कि अब उसको उस शख़्स से कोई सरोकार नहीं, उसके दिल में अब उसके लिए कोई जगह नहीं और यह कि उसे वही रास्ता इख़्तियार करना चाहिए, जिस पर मुमताज़ शान्ती उसकी हिदायत के मुताबिक़ इतने अर्से से चल रही है और इतना नाम और रुपया पैदा कर चुकी है।

इस बातचीत में मुझे भी हिस्सा लेना पड़ा कि शौकत से मेरी अच्छी ख़ासी दोस्ती हो गयी थी और वह इस बात को स्वीकार भी कर चुका था कि उसे नूरजहाँ से मुहब्बत है। और मिर्ज़ा मुशर्रफ़ से जो उसका सिलसिला जारी था, उस से तो क़तई तौर पर यह साबित होता था कि वह दूसरी औरतों के आलिंगन में नूरजहाँ की याद को दफ़्न करना चाहता है, और हिरन मार्का जैसी थर्ड क्लास व्हिस्की से अपना ग़म ग़लत करने की कोशिश कर रहा है।

वास्तव में शौकत घड़ीसाज़ था और अपने फ़न में सिद्ध था। इसलिए वह हर चीज़ की

नोक-पलक दुरुस्त करता रहता था। उसकी तबियत किसी उखड़े हुए पुर्ज़े, किसी टेढ़ी कील, किसी ग़लत वक़्त देने वाली घड़ी, कपड़े में किसी शिकन और सिलवट को बर्दाश्त नहीं कर सकती। उसके स्वभाव में एक व्यवस्था है। वही व्यवस्था, जो एक अच्छी घड़ी में होती है मगर यहाँ नूरजहाँ के मामले में वह ख़ुद को बेबस समझता है। वह उस घड़ी के कल-पुर्ज़े कैसे दुरुस्त कर सकता था, जिसको दिल कहते हैं। अगर यह कोई ऐसी चीज़ होती, जिसे वह अपने सामने रख कर आई-ग्लास में देख सकता, उसकी बाल-कमानियों और उसकी गराड़ियों की जाँच-परख कर सकता तो यक़ीनन वह पेचकस ले कर उन्हें सब-का-सब खोल देता, जो गड़बड़ पैदा होने का कारण बन रही थीं। मगर यह मामला दिल का था।

उधर नूरजहाँ भी, जो अपने गले से बारीक़-से-बारीक़ सुर निकाल सकती थी, हैरान थी कि अपने दिल से शौकत की याद कैसे निकाले। वह बड़े-बड़े उस्तादों की तरह ख़्याल गा सकती थी, मगर एक ख़याल उसके दिल-ओ-दिमाग़ पर हर वक़्त छाया रहता था और यह ख़याल उसके महबूब का था। बाँके-छबीले शौकत का जिसने उसको ज़िन्दगी की बेहतरीन लज़्ज़त बख़्शी थी। जिसने उसके बदन में वह हरारत पैदा की थी, जो संगीत जैसी कोमल चीज़ भी पैदा नहीं कर सकती...वह उसे कैसे भूल सकती थी। वह जो उसके जिस्म मे एक अर्से तक डुबकियाँ लगाता रहा था।

शौकत के बारे में बातचीत शुरू हुई और नूरजहाँ ने ऊपर के दिल से उसके बारे में अपनी नफ़रत का इज़हार किया तो मुझसे न रहा गया। मैंने उससे कहा..."नूरजहाँ, यह सब बकवास है, जो कुछ तुमने कहा है, ख़ुदा की क़सम, तुम्हारे दिल से नहीं निकला और जो कुछ मैं इस गधे की बिरादरी वाले शौकत से सुनता हूँ, ख़ुदा की क़सम, वह भी क़तअन झूठ होता है। तुम दोनों एक-दूसरे पर मरते हो। मगर दोनों ख़ुद फ़रेब हो...अभी कल 'मुसव्विर' के दफ़्तर में तुम्हारी बातें हो रही थीं...कल शाम क्या, हर शाम जब मैं और शौकत पीना शुरू करते हैं तो वह किसी-न-किसी हीले तुम्हारी बात छेड़ देता है। फिर ख़ुद ही कहता है कि उसकी बात न करो। यही हाल तुम्हारा है। मैंने तुम्हारी याद में उसकी आँखों में आँसू भी देखे हैं और और मैं तुम्हें यह भी बता दूँ कि अगर वह तुमसे दूर रहा, तो वह अपनी जवानी, अपनी सेहत तबाह करेगा। वह तुम्हारे बग़ैर ज़िन्दा नहीं रह सकता। मालूम नहीं, तुमने उस पर क्या जादू फूँक रखा है?"

नूरजहाँ पर सकता-सा तारी हो गया।

मैंने फिर कहना शुरू किया, "नूरजहाँ ख़ुद फ़रेबी से काम न लो। मैं मानता हूँ कि निज़ामी साहब बड़े दुनिया देखे हुए आदमी हैं, लेकिन इश्क़-ओ-मुहब्बत में वे गुर कभी नहीं चलते, जो ज़िन्दगी के दूसरे बाज़ारों में चलते हैं। ये खोटे सिक्के हैं"—मैं एकदम निज़ामी साहब से मुख़ातिब हुआ, "क्यों निज़ामी साहब, क्या यह झूठ है?"

निज़ामी साहब कुछ ऐसे मेरी तक़रीर में गुम थे कि उन्होंने जब हामी में अपना सिर हिलाया तो उन्हें इस का बिलकुल एहसास नहीं था। फिर जब एक धक्के के साथ उन्हें अपनी ग़लती का एहसास हुआ तो मैं बहुत आगे निकल चुका था। मैं नूरजहाँ से, जिसकी आँखों से आँसू तैर रहे थे, कह रहा था, "तुम दोनों बेवकूफ़ हो, एक-दूसरे से मुहब्बत करते हो, मगर

उसे छुपाये फिरते हो...किससे...किनसे...यह दुनिया तो, माफ़ करना, नूरजहाँ किसी को भी मुहब्बत करते नहीं देख सकती...लेकिन इसका यह मतलब तो नहीं कि लोग मुहब्बत करना छोड़ दें। मुमताज़ शान्ती की ज़िन्दगी वाक़ई क़ाबिल-ए-रश्क है। निज़ामी साहब जैसे मेहरबान और होशियार चचा की सरपरस्ती में वह यक़ीनन ख़ुदा के फ़ज़्ल-ओ-करम से और भी तरक़्क़ी करेगी। लेकिन...” यहाँ मैं फिर निज़ामी से मुख़ातिब हुआ, “लेकिन निज़ामी साहब आपसे यह छिपा नहीं होगा कि हर आदमी के लिए एक चचा काम नहीं दे सकता। आपने जो हिदायतें मुमताज़ के लिए सोची थीं, ज़ाहिर है कि वे नूरजहाँ के लिए कारआमद साबित नहीं हो सकतीं। दोनों के मिज़ाज में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है...क्या मैं झूठ कहता हूँ?”

मैं अब निज़ामी को उस मुक़ाम पर ले आया था जहाँ वह मेरी कोई बात झुठला नहीं सकता था। मैंने मौक़ा ग़नीमत समझा और बोलता चला गया। मैंने नूरजहाँ के दिल-ओ-दिमाग़ पर जो उसके लिए ग़ालिबन पहले ही से तैयार था यह हक़ीक़त अच्छी तरह अंकित कर दी कि वह और शौकत एक-दूसरे के लिए बने हैं और यह जो वे ख़ुद फ़रेबी से काम ले रहे हैं, बड़ी नुकसानदेह चीज़ है।

निज़ामी जब उठा तो वह कोई ख़ुश आदमी नहीं था। (इस जुमले में अंग्रेज़ीपन है मगर यह मुझे पसन्द है) मगर अपनी फ़ितरत से मजबूर वह मुझसे रूखेपन का इज़हार न कर सकता था। चुनांचे उसने नूरजहाँ से कहा कि वह ठण्डी बोतल की बजाय गर्म बोतल ले कर ख़ुरशीद के साथ स्टूडियो चली जाये और वहाँ समय-समय पर दर्द का बहाना करती रहे, फिर उसने बड़े खिले चेहरे के साथ मुझसे बातचीत की और मुझे यक़ीन दिलाया कि मेरे लिए फ़्लैट और फ़र्नीचर वग़ैरा का मुकम्मल बन्दोबस्त कर रखा है। उसको हैरत थी कि मैं इतने दिनों कहाँ ग़ायब रहा। फ़्लैट की चाबी उसके मैनेजर के पास थी और वह मेरा इन्तज़ार कर रहा था। ब्लैक मार्केट से पेट्रोल हासिल करने के लिए भी उन्होंने वैसा ही मुकम्मल इन्तज़ाम कर छोड़ा था। इसके अलावा उनकी दिली ख़्वाहिश थी कि मैं उनकी दावत कुबूल करूँ, जिसमें वे मेरा सत्कार अलावा मुर्ग़ा के, “जॉनी बॉकर ब्लैक लेबल” से करेंगे।

मैंने उचित शब्दों में उसका शुक्रिया अदा किया, लेकिन उसकी ज़िद थी कि मैं ज़रूर उसकी दावत क़बूल करूँ। चुनांचे मैंने क़बूल कर ली। मगर मुझे यक़ीन था कि अगर मैं उसके यहाँ चला भी गया तो मुर्ग़े और जॉनी वॉकर ब्लैक लेबल का ज़िक्र तक नहीं होगा।

ख़ैर...! निज़ामी साहब को छोड़िए कि वे निज़ामी साहब हैं...मालूम नहीं किस ख़याल से। मुमकिन है, हसन निज़ामी देहलवी के मुरीद हों या ख़ुद अपने बनाए निज़ामी हो। मुझे सिर्फ़ यह बताना है कि उस शाम मेरी भाषण नुमा बातचीत ने निज़ामी के तमाम प्लान दरहम-बरहम कर दिये।

मुझे मालूम हुआ कि नूरजहाँ अब कमाल अमरोही से कोई दिलचस्पी नहीं लेती। उसके टेलीफ़ोन आते हैं, मगर वह कोई जवाब नहीं देती। वह अपनी सैकण्ड हैण्ड कार ले कर आता है, मगर वह किसी कमरे में छुप जाती है और निज़ामी की हिदायत के मुताबिक़ अमल नहीं करती।

इन तमाम बातों की रिपोर्ट मेरे ज़रिये शौकत तक पहुँच जाती थी। हमें इस बात का पूरा एहसास था कि वह मर्दे-तस्मा-पा निज़ामी के शिकंजे में है और उसका वहाँ से निकलना मुश्किल है। चुनांचे हमने एक कॉन्फ़रेंस की, जिसमें नज़ीर लुधियानवी (एडीटर 'मुसव्विर' वीकली), मैं और शौकत शामिल थे। तय हुआ कि वहीं कैडिल रोड पर कोई मकान हासिल किया जाये।

नज़ीर लुधियानवी की कोशिशों से कैडिल रोड पर समन्दर के किनारे के बिलकुल क़रीब ग्राउण्ड फ़्लोर पर एक निहायत उम्दा फ़्लैट मिल गया, जिसमें तीन गुसलख़ाने थे, कई कमरे थे और एक लम्बा-चौड़ा ड्रॉइंगरूम था।

नज़ीर ने, जो 17 एडल्फ़ी चैम्बर्ज़ जैसे वाहियात फ़्लैट में रहते-रहते उकता गया था, शौकत से कहा कि वह साझा करने के लिए तैयार है, दोनों इकट्ठे रहेंगे, चुनांचे फ़्लैट फ़ौरन हासिल कर लिया गया। किराया ग़ालिबन एक सौ पचहत्तर रुपये या दो सौ रुपये माहवार था। फ़र्नीचर और दूसरे साज़-सामान से चन्द दिन के अन्दर-अन्दर यह जहाज़ी फ़्लैट सजा दिया गया। शौकत का बेड-रूम समन्दर की तरफ़ था।

इधर से अगर पाँच सौ क़दम का फ़ासला तय किया जाता तो निज़ामी का फ़्लैट आता था। मतलब यह कि अब नूरजहाँ और शौकत में सिर्फ़ इतने ही क़दमों का फ़ासला बाक़ी रह गया था।

मेरे ज़िम्मे जिस काम का फ़ैसला किया गया था, वह मैं ख़ुश असलूबी से निभा रहा था। कभी-कभी निजामी के यहाँ जा निकलता था और अगर नूरजहाँ मौजूद होती तो उसको बता देता कि शौकत ने कितनी आहें उसके लिए भरी हैं और रात को पीने के बाद वह कितनी मरतबा उसकी जुदाई में रोया है।

नूरजहाँ को मेरे ज़रिये यह भी मालूम हो चुका था कि शौकत उसके पड़ोस में रहता है और यह कि सिर्फ़ पाँच सौ क़दम किनारे के साथ चलकर वह उसके पास पहुँच सकती है या वह उसके पास...सैर की सैर है और दीदार-ए-यार भी।

मैंने कई दफ़ा महसूस किया कि यह काम जो मैं कर रहा हूँ, किसी बूढ़ी कुटनी का है, मगर दोस्त के लिए आदमी क्या कुछ नहीं करता?

यहाँ मैं आप पर प्रकट कर दूँ कि मैं दोनों की शादी के सख़्त ख़िलाफ़ था। ऐक्ट्रेस से शादी का सिलसिला ही मेरे नज़दीक बड़ी ग़लत बात है। दोनों एक-दूसरे के साथ रहें, बस ठीक है। जब उकता जायें, अपना-अपना रास्ता पकड़ें, मगर शौकत पट्टा लिखवाने का क़ायल था कि ज़मीन सारी उम्र उसी की मिल्कियत रहे। मैंने उसे बहुत समझाया, वह मान गया कि अगर नूरजहाँ से उसका मिलाप हो गया तो वह शादी नहीं करेगा।

मुझे जो करना था, कर चुका था। मैं अब अपनी कहानी का, जिसका नाम 'नौकर' तय हुआ था, सिनारियो लिखने में बेतरह मसरूफ़ था। इसके अलावा कैडिल रोड और भायखला के बीच कई मील का फ़ासला था, इसलिए शौकत के यहाँ मेरा आना-जाना कम हो गया।

उन दिनों अच्छी बियर नायाब थी। इत्तफ़ाक़ से अमरीकी बियर की चार बड़ी-बड़ी बोतलें मुझे मिल गयीं। मैं उन्हें साथ ले कर कैडिल रोड पहुँचा। सुबह का वक़्त था। मैं चाहता

था कि यह पेय नाश्ते ही से शुरू किया जाये।

जब वहाँ पहुँचा तो देखा कि फ़्लैट सुनसान है। नज़ीर लुधियानवी नहा-धोकर और नाश्ता करके दफ़्तर रवाना हो चुका है और शौकत सो रहा है।

मैं उसके सोने के कमरे के पास पहुँचा और दस्तक दी। कोई जवाब न मिला। फिर ज़रा ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया। अन्दर से शौकत की निंदासी आवाज़ आयी... “कौन है?”

मैंने जवाब दिया, “मंटो।”

शौकत ने कहा, “ठहरो!”

मैं ठहरा रहा। तीन मिनट के बाद दरवाज़ा खुला। कमरे के इकलौते पलँग पर नूरजहाँ लेटी हुई थी। मैंने उसको देखते ही नारा लगाया...“इंक़लाब ज़िन्दाबाद।”

ऐसा मालूम होता था कि नूरजहाँ की आँखें अभी-अभी लॉण्ड्री से धुल के आयी हैं। मैंने शौकत को देखा कि वह किसी क़दर शिथिल था। मैंने उससे पूछा, “तो चित्तौड़गढ़ फ़तह हो गया?”

शौकत मुस्करा दिया। उसकी यह मुस्कराहट इत्मीनान-भरी थी। कहने लगा, “आओ बैठो।”

मैं उनके पलँग के पास ड्रेसिंग-टेबिल के स्टूल पर बैठ गया और शौकत से मुख़ातिब हुआ, “क्यों भई, यह मोहतरमा कैसे तशरीफ़ लाईं?”

शौकत ने विजय-भरी नज़रों से नूरजहाँ को देखा, जो पलँग पर चादर से ख़ुद को अच्छी तरह ढाँप रही थी, “बस, कच्चे धागे से बँधी आयी हैं।”

मालूम नहीं, वह कच्चे धागे से बँधी आयी थी या पक्के धागे से बँधी आयी थी, पर मैं इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि वह धागा जैसा भी था, उसकी रचना हाथों से नहीं, दिलों से हुई थी। बड़े उम्दा तरीक़े पर बटा हुआ था, वरना वह पाँच सौ क़दमों का फ़ासला इतनी जल्दी और इतनी ख़ूबी से पाटा न जा सकता।

किस्सा मुख़्तसर यह कि शौकत के बेड-रूम में जिस फ़र्नीचर की कमी थी, वह पूरी हो गयी थी...अब वह मुकम्मल तौर पर सज गया था। लेकिन उधर निज़ामी के फ़्लैट में एक बत्ती बुझ गयी थी। वह बत्ती, जो एक पूरे बिजली-घर में तब्दील हो सकती थी।

निज़ामी ने उसे बहुत समझाया-बुझाया। भाइयों ने उसे बहुत धमकियाँ दीं, पर जब इश्क़ का भूत सिर पर सवार हो तो कानों के सारे दरवाज़े बन्द हो जाते हैं। धमकियाँ और भभकियाँ, सीख और नसीहतों का क़तई असर नहीं पड़ता।

शौकत ने मुझसे कहा, “मंटो, मेरा ख़याल है मैं साली से शादी कर लूँ।”

मैंने फिर उससे कहा, “यह तुम्हारी मर्ज़ी है कि तुम उसके मालिक हो, लेकिन मेरी ईमानदाराना राय यही है कि तुम्हारी यह पेशक़दमी दुरुस्त नहीं होगी। क्या तुमने इस बारे में अपने घर वालों से मशविरा किया है?”

इस सवाल का जवाब शौकत गोल कर गया। बहरहाल, मुझे यक़ीन था कि वह सोच-समझ कर क़दम उठाएगा और जल्दबाज़ी से काम न लेगा।

बॉम्बे में एक बुज़ुर्ग हकीम अबू मोहम्मद ताहिर अश्क अज़ीमाबादी के नाम से थे। वे

एक अजीब शै थे। उम्र आपकी पचहतर बरस के क़रीब थी, मगर दिल जवान था। आँखों की बीनाई बिलकुल दुरुस्त थी। दाँत सलामत थे। हर नये फ़िल्म का पहला शो देखते थे। पाँच ज़बानें बोलते थे। उर्दू, फारसी, अरबी, अंग्रेज़ी औरपंजाबी। बड़े मार्के के आदमी थे। हकीमी से दिलचस्पी थी, शेर-ओ-शायरी से भी। शौकत से मैंने उनकी मुलाक़ात कराई तो वह उन पर लट्टू हो गया और उनको चचा जान कहने लगा।

हकीम साहब ने उनसे दूर-दराज़ का कोई रिश्ता भी पैदा कर लिया था। उनके कहने के मुताबिक़ वह शौकत के ख़ानदान से बहुत पुराने सम्बन्ध रखते थे।

जैसा कि मैं इससे पहले अर्ज़ कर चुका हूँ, शौकत के यहाँ मेरा आना-जाना बहुत कम हो गया था। इसलिए कि भायखला और कैडिल रोड में फ़ासला काफ़ी था। इसके अलावा मैं कहानी का सिनारियो लिखने में मशग़ूल था। चन्द दिन गुज़रे तो हकीम साहब तशरीफ़ लाये। मुझे उनसे बड़ी अक़ीदत थी कि मेरी ज़बान दुरुस्त करने में आपने अजाने ही बहुत मदद की थी। उनको भी मुझसे मुहब्बत थी कि मैं उनकी ख़िदमत के लिए हर वक़्त तैयार रहता था। बातों-बातों में आप ने मुझे बताया कि शौकत बेटे का निकाह नूरजहाँ से हो गया है। मैं बहुत हैरान हुआ कि मुझे इसकी ख़बर तक न हुई।

जब मैंने अपनी हैरत का इज़हार किया तो हकीम साहब ने सारा मामला गोल करने की कोशिश की। जब नाकाम रहे तो उन्होंने मुझसे कहा..."देखो सआदत! यह सब कुछ ख़ुफ़िया तौर पर हुआ है ताकि लोगों में चर्चा न हो। मैंने तुमसे ज़िक्र कर दिया कि तुम भी शौकत की तरह मेरे बेटे हो, इसलिए यह राज़-राज़ ही रहे।"

यह राज़ कब तक राज़ रह सकता था? मैं पचहतर बरस के बुड्ढे से क्या बहस करता। मुझे ग़ुस्सा सिर्फ़ इस बात का था कि शौकत ने मुझसे यह बात क्यों छुपाये रखी? अगर उसे निकाह करना ही था तो मेरा शामिल होना इसमें क्यों ज़रूरी न समझा। मुझे क्यों ताश की गड्डी में से जोकर समझ कर अलग कर दिया गया...मेरे दिल में खेद था, लेकिन शौकत से मैंने इसका ज़िक्र न किया कि इससे मेरे-उसके सम्बन्धों में यक़ीनन खिंचाव पैदा हो जाता।

दिन गुज़रते गये।

निज़ामी थक-हार कर बैठ गया। सैयद कमाल हैदर अमरोही ने हज़ारहा मरतबा टेलीफ़ोन किया। सैकड़ों मरतबा अपनी सैकण्ड हैण्ड कार में निज़ामी के फ़्लैट के चक्कर काटे, आख़िर वह भी नाउम्मीद हो कर दूसरे कामों में व्यस्त हो गया।

शौकत का बेड-रूम आबाद था। वहाँ हँसी के छींटे उड़ते थे। नूरजहाँ के गले से नूर बरसता था। रफ़ीक़ ग़ज़नवी से जिस क़िस्म की धुनें बनवानी होती थीं, उनकी रिहर्सल होती थी। दो जवानियाँ कैडिल रोड के इस फ़्लैट में खुल-खेल रही थीं।

मैं आपको एक लतीफ़ा सुनाऊँ।

मेरे भाईजान! सईद हसन बैरिस्टर, फ़िजी के टापू से एक मुद्दत के बाद अमृतसर जाने के लिए तशरीफ़ लाये। उन्होंने मुझे इत्तिला दी कि वह बज़रिया हवाई जहाज़ आ रहे हैं। मैं उन दिनों माहिम में रहता था और हमारा फ़्लैट बहुत ही छोटा था। मैंने अपनी बीवी से मशविरा किया। 'मुसव्विर' के एडीटर नज़ीर लुधियानवी भी मौजूद थे। तय यह हुआ कि

उनको उस फ़्लैट में ठहराया जाये जहाँ नज़ीर और शौकत दोनों इकट्ठे रहते हैं।

यह फ़्लैट, जैसा कि मैं अर्ज़ कर चुका हूँ, बहुत बड़ा था। नज़ीर छड़ा छटाँक था। शौकत था, उसकी नूरजहाँ थी। उनको तो बस फ़क़त एक बेडरूम चाहिए था। बाक़ी कमरों से उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं थी। इसलिए भाई जान के लिए, जो यूरोपी ढंग से रहने के आदी थे, एक अलहदा कमरे और गुसलख़ाने का इन्तज़ाम बड़ी आसानी से हो सकता था। चुनांचे जब वे बम्बई तशरीफ़ लाये और चन्द रोज़ के लिए वहाँ रुके तो मैं उन्हें कैडिल रोड पर ले गया।

वे यह फ़्लैट देख कर बहुत ख़ुश हुए। इमारत क़रीब-क़रीब नयी थी, आधुनिक ढंग की। दो मंज़िला थी। ऊपर की मंज़िल में मकान मालिक रहते थे। पिछली तरफ़ यानी जिधर समन्दर का किनारा था। कोई दो सौ क़दम के फ़ासले पर एक छोटा-सा बाग़ीचा था। उसमें बच्चों के खेलने के लिए झूले थे और वे, जिन्हें अंग्रेज़ी में “सी सॉ” कहते हैं और वे फिसलने वाले तख़्ते।

समन्दर की सीली-नम हवा हर वक़्त आती रहती थी। कभी-कभी यह इस क़दर तेज़ हो जाती थी कि फ़्लैट के वे तमाम दरवाज़े, वे तमाम खिड़कियाँ, जिनका रूख़ समन्दर की तरफ़ था, बन्द रखनी पड़ती थीं कि चीज़ें अपनी जगह पर सलामत रहें।

उस फ़्लैट में भाई जान अपने थोड़े-से सामान के साथ उतरे और बहुत ख़ुश हुए। लेकिन चन्द रोज़ ही में एक ट्रेजिडी घटित हो गयी।

शौकत नूरजहाँ को दोबारा पा कर बहुत ख़ुश था। इस ख़ुशी का निकास किसी-न-किसी सूरत में मनोवैज्ञानिक तौर पर होना ही चाहिए था फिर मिर्ज़ा मुशर्रफ़ था। शौकत की देग का बहुत बड़ा चमचा। चावला था, सहगल था और दूसरे थे, जो शौकत की फ़िल्म में शरीक होने के लिए बेक़रार थे।

फ़िल्मी दुनिया असल में रात की दुनिया है। दिन भर ये सब अपने-अपने कामों में व्यस्त रहते थे और शाम होते ही शौकत के यहाँ जमा हो जाते थे। व्हिस्की के दौर चलते थे। बाज़ारू क़िस्म के हँसी-ठट्ठे होते थे। गाने गाये जाते थे। कहानियाँ सुनाई जाती थीं और कभी-कभार इतना शोर-बरपा होता था कि ऊपर की मंज़िल वालों को पुकार-पुकार कर कहना पड़ता था कि बाबा ख़ामोश रहो।

एक रात शौकत ने ग़ालिबन एम.ए. मुग़नी को, जो परी चेहरा नसीम बानो के ढिंढोरची की हैसियत से मशहूर थे, अपने यहाँ बुलाया। मिर्ज़ा मुशर्रफ़ भी थे, मैं भी था, मेरी बीवी भी थी। दावत-ए-तआम से फ़ारिग़ हो कर मैं और मेरी बीवी फ़ौरन चले गये कि हमें एक ज़रूरी काम से कहीं जाना था। भाई जान शौकत अली के बेटे ज़ाहिद के यहाँ मदऊ थे। वह देर से लौटे। मगर जब उन्होंने हॉल में क़दम रखा तो देखा कि रिन्दी-ओ-सरमस्ती अपने बाल खोले नाच रही थी। वह हाड, हू, हे कि कान पड़ी आवाज़ सुनाई नहीं देती। मालूम नहीं हुआ उन्होंने क्या देखा कि सुबह उठते ही अपना सामान बँधवा कर ख़िलाफ़त हाउस चले गये और मुझे और मेरे दोस्तों को इस क़दर तेज़-ओ-तुन्द लहज़े में बुरा-भला कहा कि अब मैंने उस वाक़अ को याद किया है। मुझे बोल महसूस होता है कि मेरे कानों में पिघला हुआ सीसा उतर रहा है।

उन्होंने असल में अपनी सारी ज़िन्दगी कानून की किताबों में गुज़ारी थी। सारी उम्र मुक़दमे लड़ते रहे थे। लाहौर में, बम्बई में, मशरिक़ी अफ्रीक़ा में, जज़ायर फ़िजी में। उनको क्या मालूम कि फ़िल्मी दुनिया क्या होती है? और उसके आशिक और माशूक़ किस क़िस्म के होते हैं। यही वजह है कि वह पाँव सिर पर रख कर भागे और ख़िलाफ़त हाउस में जा कर पनाह ली। पुर लुत्फ़ बात यह है कि यह ख़िलाफ़त हाउस एक ऐसी गली में वाक़अ है, जिसका नाम 'लव लेन' यानी मुहब्बत की गली है।

यह क़िस्सा तो ख़ैर ज़िमनन आ गया कि ज़ेब-ए-दास्तान के लिए किसी हद तक ज़रूरी था। अब मैं नूरजहाँ की तरफ़ लौटता हूँ, जिसकी बड़ी बहिन वहीं कैडिल रोड पर पास ही अपने भाई के ज़रिये से पेशा कराती थी मगर प्राइवेट तौर पर। मुझे मालूम नहीं ये दोनों बहिनें आपस में मिलती थीं या कि नहीं। लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ, शौकत ने इसकी इजाज़त नूरजहाँ को कभी न दी होगी।

नूरजहाँ का भाई परले दर्जे का जुआरी था। सट्टा खेलता था। ताश के पत्तों पर दाँव लगाता था। रेसों में जाता था। उसको ज़ाहिर है कि नूरजहाँ और शौकत का मिलाप सख़्त शाक गुज़रा था। जैसा कि मैं इससे पेश्तर अर्ज़ कर चुका हूँ। उसने चचा निज़ामी से मिलकर बहुत कोशिश की कि वे फिर एक-दूसरे से जुदा हो जायें और नूरजहाँ उन दोनों की रोज़ी का ठीकरा बन जाये मगर यह बेल मुँढ़ न चढ़ी।

शौकत को हर क़िस्म की धमकियाँ दी गयीं। मगर वह भी दबंग आदमी है। उसने उनकी कोई परवाह न की और नतीजा इसका यह निकला कि मुहाज़ बिलकुल ख़ामोश हो गया।

फ़िल्म 'नौकर' की शूटिंग जारी थी। रफ़ीक़ उसकी मौसीक़ी मुरत्तिब कर रहा था। बज़ाहिर वह अपने काम में पूरे इन्हमाक से दिलचस्पी लेता था, मगर मैं साफ़ महसूस कर सकता था रफ़ीक़ ग़ज़नवी हर वक़्त उल्झन-सी महसूस करता है। इसलिए कि उसकी ऐन नाक के नीचे (यह भी अंग्रेज़ी मुहावरा है) एक और शख़्स उस लौण्डिया को उड़ा ले गया था, जिसपर उसकी इश्क़ पेशा आँख थी।

बहरहाल फ़िल्म 'नौकर' की तकमील उफ़्ताँ-ओ-ख़ेज़ाँ जारी रही। इस दौरान में मुझे मालूम हुआ कि शौकत फ़िल्म साज़ी के मामले में बेहद मुतलव्विन मिज़ाज है। उसको एक आदमी का काम पसन्द नहीं आता। बल्कि यूँ कहिए कि वह फ़क़त एक आदमी के काम से मुतमईन नहीं होता। मैंने उसको कहानी का मुकम्मल मंज़रनामा मअ मुकालमों के लिखकर दे दिया था और उसने पसन्द भी किया था। मगर बाद में पता चला कि वह खुफ़िया तौर से कई आदमियों से मुकालमें लिखवा रहा है। उनमें हमारे बुजुर्ग 'अश्क' अज़ीमाबादी भी थे। मुझे बहुत ताव आया। जहाँ तक 'अश्क' साहब का ताल्लुक था मुझे क्या एतराज़ हो सकता था। मगर दूसरों को मैं क़तअन बर्दाश्त नहीं कर सकता था। मैंने चुनांचे बड़े गर्म अल्फ़ाज़ में शौकत से अपनी शिकायत का इज़हार किया। आदमी समझदार है। हिकमत-ए-अमली से काम ले कर उसने मेरे दिमाग़ पर बर्फ़ की कई सिलें रख दीं। मगर मैं दिल बर्दाश्ता हो चुका था क्योंकि कहानी भी मेरी मर्ज़ी के मुताबिक नहीं लिखी गयी थी और उसके हर कोने और हर मोड़ पर शौकत ने अपनी मनमानी की थी।

मैं बड़ा हठ धर्म और ज़िद्दी आदमी हूँ, लेकिन शौकत के सामने मेरी कोई पेश न चलती थी, इसके अलावा मैंने चन्द दिन उसके साथ काम करके क़तई तौर पर जान लिया था कि यह शख़्स जो मेरे साथ हिरन मार्का व्हिस्की और क्रेवन के सिगरेट पीता रहा है और मेरी हर बात मानता रहा है। फ़िल्म-साज़ी के मामले में वही करेगा जो उसका घड़ी-साज दिमाग़ मुनासिब समझता। चुनांचे यही हुआ और मैंने फ़ैसला कर लिया कि दबे पाँव फ़िल्म 'नौकर' की प्रोडक्शन से बाहर निकल जाऊँगा।

मैंने ऐसा ही किया। शौकत चूँकि मेरे अड़ियल मिज़ाज से वाक़िफ़ था। इसलिए उसने मेरे इस फ़रार को सुकून के लिए अच्छा ही समझा। क्योंकि बहुत मुमकिन था कि अगर मैं किसी नुक़्ते पर अड़ जाता तो फ़िल्म की शूटिंग महीनों खटाई में पड़ी रहती।

मुझे उससे शिकायत थी। उसको भी अपनी जगह यक़ीनन होगी। मगर हमारे दोस्ताना तालुक़ात में कोई फ़र्क़ न आया। मैं इससे पेश्तर अर्ज़ कर चुका हूँ कि मुल्क में सियासी गड़बड़ के बायस फ़िल्म इण्डस्ट्री की हालत बिलकुल छुई-मुई की-सी थी। किसी ने स्टूल पर रख कर "इंक़िलाब जिन्दाबाद" का नारा लगाया तो कई फ़िल्मों का इसक़ात हो जाता था। यूँ भी उन दिनों जंग के बायस ख़ाम-माल क़रीब-क़रीब नायाब था। हालात चूँकि ग़ैर-यक़ीनी थे, इसलिए बहुत कम फ़िल्म डायरेक्टरों की माली हालत अच्छी थी। प्रोड्यूसरों के पास धड़ा-धड़ाया और बहुत माकूल बहाना मौजूद था कि रुपया कहाँ से लायेँ, जंग शुरू है। आज करेट की लड़ाई है, कल फ़नलैण्ड की, परसों जापान के हमले का ख़तरा है। मगर सच पूछिए तो यही वह ज़माना था जब प्रोड्यूसरों और सरमाया लगाने वाले मारवाड़ियों ने झोलियाँ भर-भर के कमाया।

शौकत का उस दौरान में एक और जगह काण्ट्रेक्ट हुआ ग़ालबन सेठ ज़वैरी से (बम्बई की ज़बान में जौहरी की बिगड़ी हुई शक्ल) यह एक बड़ा बख़ुद ग़लत क़िस्म का इंसान था। बड़े अदना दर्जे से ताल्लुक़ रखता था, मगर जंग ने उसको सेठ बना दिया था। अब वह खुल-खेलना चाहता था, चुनांचे उसने एक फ़िल्म कम्पनी खड़ी कर दी थी दो-चार मोटरें ले ली थीं। ऊँची जगहों पर तो उसका हाथ नहीं पहुँचता था, मगर वह एक्सट्रा लड़कियों को फाँसने में कामयाब हो जाता था।

उस सेठ से शौकत का काण्ट्रैक्ट हुआ तो उसने तीन हज़ार रुपये पेशगी दिये। मैं शौकत के साथ था। जब चेक कैश हो गया तो मैंने रुपये उससे ले लिये और उससे कहा, "चलो डाकख़ाने चलें।"

डाकखाने पहुँचकर मैंने वे रुपये सब के सब शौकत के घर रजिस्ट्री और बीमा करा के भेज दिये। मेरा ख़याल है नूरजहाँ को मेरी यह हरकत यक़ीनन नागवार गुज़री होगी। लेकिन मेरा उससे क्या सरोकार है।

उसी दौरान में शौकत को मैंने मजबूर किया कि वह अपनी ज़िन्दगी का बीमा करा ले। मेरी बहुत कम बातों को रद्द करता था। फ़ौरन मान गया। चुनांचे दस हज़ार रुपये की पॉलिसी ले ली गयी...मालूम नहीं मैं ये सब कुछ क्यों कर रहा था। मैं अब सोचता हूँ तो मुझे अपनी ये तमाम हरकत बुजुर्गाना होने के बजाय तिफ़लाना मालूम होती हैं। साफ़ औरों को

नसीहत और ख़ुद मियाँ फ़ज़ीहत वाला मामला था।

नूरजहाँ अब ख़ूब निखर गयी थी...मर्द की कुर्बत भी औरत के हुस्न के लिए कितनी ज़रूरी होती है...उसके जिस्म के खुतून अब वाज़ह शक्ल इख़्तियार कर चुके थे। वो तमाम ख़ाली जगहें जो लाहौर में पुर न हुई थीं यहाँ बम्बई में पुर हो गयी थीं और उसपर जिस्म की लज़्ज़तों के क़रीब-क़रीब तमाम इसरार मुंकशिफ हो चुके थे। नूरजहाँ गो अब भी लोगों की ज़बान पर बेबी नूरजहाँ थी। मगर वह इश्क़-ओ-मुहब्बत का झूल-झूल कर उन तमाम झोंटों से आशना हो चुकी थी तो उसकी रस्सियों में पोशीदा होते हैं।

एक दिन आउटडोर शूतिंग थी। बम्बई के मज़ाफ़ात में किसी का एक ख़ूबसूरत बाग़ था, जिसको शौकत ने मुंतख़िब किया था। कैमरे के लेंस के साथ रेड फिल्टर लगाकर मंज़र कशी करनी थी कि दिन की बजाय रात मालूम हो। जो धूप हो वह चाँदनी नज़र आये।

शौकत ने इसरार किया कि मैं उसके साथ ज़रूर चलूँ मुझे देर हो गयी। इसलिए मैं सेठ व्यास की गाड़ी में वहाँ पहुँचा। नूरजहाँ को मैंने लोकेशन पर देखा तो मेरी आँखों को ज़बरदस्त धक्का लगा। अजीब-ओ-ग़रीब लिबास पहने थी। लिबास की वज़अ-क़तअ मेरे लिए नयी नहीं थी। मामूली शलवार-क़मीज़ थी, मगर उसमें आँखों के लिए बड़ी ख़ारिश पैदा करने वाली हिद्दत थी।

शलवार जाली की थी जिसे अंग्रेज़ी में 'नेट' कहते हैं आम तौर पर यह कपड़ा खिड़कियों के पर्दों के लिए इस्तेमाल होता है। मालूम नहीं यह नूरजहाँ की पच थी या सैय्यद शौकत हुसैन रिज़वी की...मगर वह ये लाखों खिड़कियों वाली शलवार पहने थी। जिसमें उसकी टाँगें बग़ैर किसी तकलीफ़ के छन-छन के बाहर आ रही थीं। क़मीज़ भी उसी कपड़े की थी। अब आप ख़ुद ही अन्दाज़ा लगा लीजिए कि इस मलबूस ने नूरजहाँ को ढाँकने की कितनी कोशिश की होगी।

शोभना समर्थ भी मौजूद थी। नूरजहाँ को इस लिबास में देख कर मैं तो वल्लाह बौखला गया था। ऐसा लिबास, फिर रोशनी के पेश-ए-मंज़र में। मैंने अपनी ज़ख़्मी निगाहें उधर से हटाईं और शोभना के पास चला गया कि वह मसतूर थी।

शोभना समर्थ तालीम याफ़्ता औरत है। गुफ़्तगू का सलीक़ा रखती है। चूँकि अच्छे मरहठी ख़ानदान की है। इसलिए उसमें हलक़ट पन (बम्बई की ज़बान में) नहीं। बड़ी बा तमीज़ औरत है। वह भी इस फ़िल्म में काम कर रही थी। मैं उसके साथ घास के एक तख़्ते पर बैठ गया और अपनी वह कोफ़्त और अपना वह तकद्दुर दूर करता रहा जो नूरजहाँ का खिड़कियों वाला लिबास देख कर मेरे दिल-ओ-दिमाग़ में पैदा हुआ था।

जैसा कि मैं इससे पहले बयान कर चुका हूँ। मुझे फ़िल्म 'नौकर' से कोई दिलचस्पी नहीं रही थी। शौकत अपनी मनमानी कर रहा था और मैं उसमें दख़ल देने से कतराता था कि मबादा उसके मेरे तालुक़ात ख़राब हो जायें।

नूरजहाँ से उसके घर में कई मरतबा मुलाक़ातें हुईं। मैंने उसका जब और ज़्यादा ग़ौर से मुतालिआ किया तो मुझे महसूस हुआ कि वह जिस तबके से ताल्लुक रखती है, उसी की खुसूसियात उसमें ब दर्जा-ए-अतम मौजूद हैं। उसकी हर हरकत में एक बनावटी अदा थी।

एक नख़रा था, जिसे संजीदा निगाहें शायद ही क़बूल कर सकें।

मुझे ताज्जुब है कि शौकत ठेठ हिन्दोस्तानी (यानी यू.पी. का बाशिन्दा) और वह ठेठ पंजाबी...एक लिहाज़ से 'जटनी'...गाँव की मटियार...लेकिन दोनों बहुत खुश थे। शौकत पंजाबी नुमा उर्दू बोलने की कोशिश करता और वह उर्दू नुमा पंजाबी। ख़ासी दिलचस्प चीज़ थी।

फ़िल्म 'नौकर' ख़त्म हुई तो शौकत और मेरे दरमियान फ़ासला बढ़ गया। वह इश्क़ के झूले झूल कर अब कारोबारी धन्धों में मशग़ूल हो गया था और मैं अपने कामों में। गाह-ए-गाह-ए किसी फ़िल्म कम्पनी के दफ़्तर में, या सड़क पर उससे मुलाक़ात हो जाती थी। मगर वह भी चन्द मिनटों की। ख़ैर ख़ैरियत दरियाफ़्त की और अपनी-अपनी राह ली।

फ़िल्म इण्डस्ट्री की हालत अब बेहतर थी। जंग का ख़ौफ़ अब प्रोड्यूसरों के सिर से उतर चुका था और फ़िल्म इण्डस्ट्री के तमाम मुतअलेक़ीन को मालूम हो चुका था कि यह ज़माना कमाने का है। चुनांचे लाखों रुपये इधर से उधर आ जा रहे थे।

शौकत ज़हीन होने के अलावा कारोबारी आदमी भी है। चुनांचे उसने इस मौक़े से फ़ायदा उठाया और कुछ अर्से के बाद अपनी ज़ाती फ़िल्म कम्पनी क़ायम की और एक बड़ा कामयाब फ़िल्म बनाया। यूँ तो उसकी साख वैसी ही क़ायम थी कि फ़िल्म इण्डस्ट्री के लोग उसे एक क़ाबिल डायरेक्टर और माहिर एडीटर मानते थे लेकिन जब उसने अपनी ज़ाती फ़िल्म कम्पनी खड़ी की तो इण्डस्ट्री के हल्कों में उसका वक़ार और भी बढ़ गया।

आम तौर पर डायरेक्टर या प्रोड्यूसर फ़िल्मी दुनिया में किसी एक्ट्रेस से सिर्फ़ इसलिए शादी नहीं करते हैं कि वह उनकी कश्ती-ए-हयात में पतवार का काम दे। मालूम नहीं शौकत ने नूरजहाँ से क्या इसी मक़सूद के पेश-ए-नज़र शादी की थी। लेकिन मैं समझता हूँ कि अगर वह उससे शादी न भी करता तो भी उसकी आमदनी में रोज़ अफ़जूँ तरक़्क़ी होती रहती। इसलिए कि अपने फ़न को जानता है और मज़दूरों की तरह मशक्कत कर सकता है।

मुझे मालूम नहीं, शौकत बम्बई को छोड़ कर पाकिस्तान क्यों आया। शायद इसकी वजह यह हो कि वह बड़ा कट्टर क़िस्म का मुसलमान है। अगर वहाँ बम्बई में किसी ने मुसलमानों के ख़िलाफ़ एक जुमला भी कह दिया होता तो मुझे यक़ीन है वह उसकी खोपड़ी पेचकश से खोल देता और उसकी एसलाह करने की नाकाम कोशिश करता और यह भी हो सकता है कि नूरजहाँ ने उसे मजबूर किया हो कि उसे लाहौर बहुत प्यारा है। क्योंकि पंजाबियों के कहने के मुताबिक़ "लाहौर लाहौर है।"

बम्बई में वह बहुत कामयाब था। उसने एक-दो फ़िल्म ऐसे बनाए थे जिनसे उसकी धाक बैठ गयी थी। वह करोड़ों रुपये वहाँ पैदा कर सकता था। लेकिन उसने पाकिस्तान को अपना घर बनाया। उसका घड़ी-साज़ दिमाग़ जो सुई की ख़फ़ीफ़ सी ग़लत हरकत बर्दाश्त नहीं कर सकता। यहाँ पाकिस्तान की फ़िल्म इण्डस्ट्री के लिए जो हालत-ए-निज़अ में थी काम आया।

उसने शौरी का जला हुआ, सड़ा हुआ, निहायत शिकस्त स्टूडियो हासिल किया और उसे एक आला तारीन निगार-ख़ाने में तबदील कर दिया।

आप में से बहुत कम हज़रात जानते होंगे कि शाहनूर स्टूडियो में जो भी कील ठुकी है,

उसमें शौकत हुसैन रिज़वी का हाथ है। जो पेच लगा है उस पर शौकत के पेचकश का निशान है। वहाँ छोटे से बूटे से ले कर लेबॉर्ट्री की भारी-भरकम मशीनरी तक सब उसके हाथ की लगी है।

यह बहुत बड़ा वस्फ़ है...इतना बड़ा कि उसके और दूसरों के लिए नुकसान-देह साबित हुआ है। हर बात में अमली तौर भर दख़ल देने से उसने कई गड़बड़ घोटाले (बम्बई की ज़बान में) किये हैं। यूँ वह बड़े ठाट से रहता है, लेकिन मैं आपको एक पुर लुत्फ़ क़िस्सा सुनाता हूँ।

यहाँ लाहौर में आकर भी वह मेरा दोस्त है। मेरी अक्सर मदद करता रहा है। एक बार मैं उसके पास गया। उसकी बेदाग़ सफ़ेद क़मीज़ के बटन मौजूद नहीं थे। मैंने अपनी हैरत का इज़हार किया कि यह क्या क़िस्सा है। उसने मुस्करा कर कहा, “क्या बताऊँ यार...पैसे ही नहीं कि बटन ख़रीद सकूँ।”

जब मैंने उससे सिगरेट तलब किया तो उसने मुझे बताया कि दस रोज़ से वह सिगरेट उधार ले रहा है।

यह उस शख़्स की हालत थी जिसके स्टूडियों में लोगों को रेफ्रिजरेटर का ठण्डा पानी मिलता है। जहाँ फूल खिलते हैं। जहाँ कई माली काम करते हैं। जहाँ सैकड़ों मज़दूर हैं। जहाँ नूरजहाँ है जो आला से आला कपड़े पहनती है और मोटरों में घूमती है।

नूरजहाँ के मुताल्लिक़ कई अफ़वाहें मशहूर है। बहुत मुमकिन है कि उनमें से कुछ हक़ीक़त पर मबनी भी हों लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि वह दो निहायत प्यारे बच्चों की माँ है। जो चीफ़्स कॉलेज के साफ़-सुथरे माहौल में तालीम हासिल कर रहे हैं। वह उनसे प्यार करती है।

पिछले दिनों चीफ़्स कॉलेज में एक जलसा था। जिसमें नन्हें-मुन्ने बच्चों ने हिस्सा लिया था। उसमें एक डांस था। राधाकृष्णा डांस। नूरजहाँ का बड़ा लड़का एक गोपी बना हुआ था। इस निसवानी लिबास में वह बहुत प्यारा दिखायी दे रहा था। उसका रक़्स भी बहुत ख़ूब था।

नूरजहाँ यक़ीनन रक़्स जानती है। मालूम नहीं उसने अपने अकबर को ख़ुद तालीम दी है या वह ख़ुद-ब-ख़ुद ख़ून के ज़रिए से सब कुछ सीखा है बहरहाल अब देखना है कि ‘अकबर’ और ‘असगर’ जो कि चीफ़्स कॉलेज में तालीम हासिल कर रहे हैं। आगे चलकर क्या बनते हैं?

क्या ये बैरी मौर्यों और पृथ्वींराजों का ख़ानदान बनेगा?...फ़िलहाल हम उसके मुताल्लिक़ क्या कुछ कह सकते हैं?

नूरजहाँ ज़रा बद-दिमाग़ है। उसको अपने हुस्न पर तो नाज़ नहीं होना चाहिए कि ऐसी कोई चीज़ उसमें नहीं है। एक फ़क़त आवाज़ है, गला है, जो नूर से भरा है। इस पर अगर उसे नाज़ है तो बजा है, मगर बद-दिमाग़ होने का यह फिर भी कोई सही जवाज़ नहीं।

मुझे याद है एक मरतबा मेरी बीवी ने बम्बई में मुझसे कहा, “आप नूरजहाँ को जानते हैं। वह हमारे घर कई मरतबा आ चुकी है। क्या वह अब नहीं आ सकती। मेरी चन्द सहेलियाँ उससे मिलना चाहती हैं।”

मैंने उससे कहा, “क्यों नहीं आ सकती। हज़ार मरतबा आ सकती है।”

मैंने शौकत से कहा तो उसने दूसरे रोज़ ही उसे भेज दिया। मैंने बहुत सी ऐक्ट्रेस देखी हैं। बड़े ऊँचे पाये की, बहुत मशहूर, बहुत मारूफ़, मगर उनमें मुझे वह तकल्लुफ़ नज़र न आया जो नूरजहाँ में है। वह बनती है उसकी मुस्कराहट, उसकी हँसी, उसका सलाम, उसकी मिज़ाजपुर्सी, सब मसनूयी ही होती है। मालूम नहीं, ये चीज़ उसकी तबियत में कैसे दाख़िल हुई। बाज़ अवक़ात जब मैं उसकी और शौकत की अज़दवाजी ज़िन्दगी का तसब्बुर करता हूँ तो मुझे वह भी मसनूयी सी दिखायी देती हैं, लेकिन ख़ुदा का शुक्र है कि ऐसी नहीं।

नूरजहाँ आयी, सबसे बड़े पुरखुलूस तपाक से, जिसे मैं अब भी मसनूयी समझता हूँ, मिली। मैं चाहता था कि औरतों को छोड़ कर चला जाऊँ कि वे आज़ादाना तौर पर गुफ़्तगू कर सकेंगी, मगर मेरी बीवी की एक सहेली ने इसरार किया कि मैं मौजूद रहूँ और नूरजहाँ से कहूँ कि वह गाना गाये।

मैंने चुनांचे बड़े बेतकल्लुफ़ अन्दाज़ में नूरजहाँ से कहा कि भई एक दो गाने हो जायें कि ये लोग तुम्हारी आवाज़ का “ज़िन्दा नाच-ओ-गाना” सुनना-ओ-देखना चाहती हैं।

नूरजहाँ ने एक पुर तकल्लुफ़ अदा से जवाब दिया, “नहीं मंटो साहब, फिर कभी...मेरा गला ठीक नहीं।”

मैं कबाब हो गया। उसका गला बिलकुल ठीक था। उस का गला फ़ौलाद का गला है जो कभी ख़राब ही नहीं हो सकता। सरीहन नख़रे कर रही थी। मैंने उससे फिर कहा...“नूरजहाँ यह बहाना यहाँ नहीं चलेगा...तुम्हें गाना पड़ेगा। मैं तो तुम्हें हज़ार मरतबा सुन चुका हूँ। मगर इन लोगों को इश्तियाक़ है इसलिए तुम्हें अच्छे बुरे गले के साथ ही गा देना चाहिए।’

बहुत देर तक उधर से इंकार, इधर से इसरार होता रहा। मेरी बीवी ने कहा कि जाने दो, जब वह नहीं गाना चाहतीं तो आप इस क़दर ज़ोर क्यों देते हैं। मगर मैं भी एक जिद्दी हूँ। नूरजहाँ के पीछे पड़ गया। आख़िर उसको ‘फ़ैज़’ की वह ग़ज़ल गानी पड़ी...

आज की रात साज़-ए-दर्द न छेड़

कमबख़्त ने क्या धुन बनाई थी और क्या आवाज़ थी कि अब इतने बरस गुज़र जाने पर भी मेरे कान उस शहद भरी आवाज़ को सुन सकते हैं।

नूरजहाँ के कई आशिक होंगे। मैं ऐसे कई बावर्चियों को जानता हूँ जो चूल्हे के पास नूरजहाँ की तस्वीरें लगाकर अपने साहबों और मेम साहबों का खाना पकाते हैं और उसके गाए हुए गीत अपने कनसुरी आवाज़ों में गाते हैं।

घरों के उन नौकरों को भी मैं जानता हूँ जो निम्मी, नर्गिस और कामिनी कौशल को पसन्द नहीं करते। लेकिन नूरजहाँ के वाला-ओ-शैदाँ हैं। जहाँ कहीं उसकी तस्वीर मिल जाये, काटकर अपने टूटे हुए ट्रंक में रख लेते हैं और फ़ुर्सत के वक़्त देख-देख कर अपनी आँखें सेंकते हैं। नूरजहाँ को अगर कोई बुरा कहे तो लड़ने-मरने पर तैयार हो जाते हैं।

और मेरे घर में उसका एक आशिक ज़ार मौजूद है। वह हर ख़ूबसूरत लड़की, हर दुल्हन, हर सुर्ख़पोश औरत को नूरजहाँ कहता है। उसको नूरजहाँ के गाये हुए गाने क़रीब-

क़रीब सब याद हैं। वह ख़ुद बड़ा हसीन है लेकिन जाने उसे नूरजहाँ की कौन सी अदा भा गयी है कि वह दिन-रात उसी का ज़िक्र करता है।

वह मेरा क़रीब तरीन अज़ीज़ है। मेरी साली और मेरे भांजे का लड़का है। उसका नाम शाहिद जलाल है। हम सब उसे प्यार से टाकू कहते हैं। उसको हम सब बहुत समझा बुझा चुके हैं कि देखो तुम नूरजहाँ का ख़याल छोड़ दो। वह एक ब्याहता औरत है जिसके कई बच्चे हैं। तुम्हारी उसकी शादी नहीं हो सकती। मगर वह नहीं मानता।

फ़िल्म देखता है लेकिन अगर उसमें नूरजहाँ न हो तो उसे बहुत कोफ़्त होती है। यह कोफ़्त, वह घर आकर नूरजहाँ के गाये हुए गाने गा कर दूर करता है और अपनी माँ और अपने बाप से कहता है कि मुझे और कोई नहीं चाहिए सिर्फ़ नूरजहाँ चाहिए।

पिछले दिनों उसके दादा मियाँ जलाल दीन, शौकत रिज़वी के पास गये थे। उन्होंने उससे कहा था कि देखो तुम्हारी बीवी का एक आशिक पैदा हो गया है, जो बुरी तरह उस पर लट्टू है। ऐसा न हो कि वह किसी रोज़ नूरजहाँ को ले उड़े और तुम मुँह देखते रह जाओ।

वह बहुत हैरान हुआ। इसलिए कि मियाँ साहब मौसूफ़ ने यह बात शौकत को बताई थी। पहले तो वह झेंपा, फिर उससे पूछा "मियाँ साहब वह कौन शख़्स है?"

मियाँ साहब ने मुस्करा कर उससे कहा, "मेरा पोता।"

"आपका पोता...क्या उम्र है उसकी?"

मियाँ साहब ने जवाब दिया, "यही! चार बरस के क़रीब।"

यह हाल ही की बात है। नूरजहाँ ने जब ये सारी बात सुनी तो बहुत महजूज़ हुई। उसने कहा कि मैं ख़ुद अपने आशिक के पास जाऊँगी और उससे शादी कर लूँगी। शाहिद जलाल बहुत खुश है। वह उस दिन का बड़ी बेताबी से इंतेज़ार कर रहा है। जब नूरजहाँ ख़ुद उसके पास चलकर आयेगी और वह उसे अपनी दुल्हन बनाएगा।

पिछले दिनों नूरजहाँ के एक और आशिक का क़िस्सा सुनने में आया था मगर वह चार बरस का नहीं था। अच्छा ख़ासा जवान था और ग़ालबन नाई यानी हज्जाम था। हर वक़्त उसके गाये हुए गाने गाता रहता था और उसी की बातें करता था। एक आदमी ने उससे कहा, "क्या वाक़ई तुम्हें नूरजहाँ से मुहब्बत है?"

हज्जाम ने बड़े पुर खुलूस अन्दाज़ में जवाब दिया, "इसमें क्या शक है?"

उसके दोस्त ने उसका इम्तिहान लेना चाहा। "अगर तुम्हें उससे सच्ची है तो क्या महिवाल की तरह तुम उसके लिए अपना गोश्त दे सकते हो कि कबाब बनाकर उसे भेजें जायें।"

इज्जाम ने तेज़ उस्तरा निकाल कर अपने दोस्त के हाथ में दे दिया और अपने दोस्त से कहा, "जहाँ से चाहो मेरा गोश्त काट लो।"

उसका दोस्त मालूम नहीं किस क़िस्म का इंसान था कि उसने उसके बाज़ू से पाव भर गोश्त का टुकड़ा उस्तरे से काटकर अलग कर दिया और ख़ुद भाग गया कि हज्जाम साहब इस कुर्बानी के बाद ख़ून के बहाव के बायस बेहोश हो गये।

इस आशिक ज़ार को अब मेयो अस्पताल में दाख़िल किया गया और जब उसको थोड़ा

सा होश आया तो उसकी ज़बान पर नूरजहाँ का नाम था।

इसके अलावा आज कल नूरजहाँ पर एक मुक़दमा भी चल रहा है। इल्ज़ाम यह है कि उसने एक नयी नवेली एक्ट्रेस निगहत सुल्ताना को अपने स्टूडियो में ख़ूब मारा पीटा, उसका मुँह नोचा और उसकी ख़ूब मरम्मत की। मुक़दमा अदालत में है इसलिए मैं उसके मुताल्लिक़ कुछ कहना नहीं चाहता कि तौहीन-ए-अदालत के मुतरादिफ़ होगा। लेकिन समझ में नहीं आता कि नूरजहाँ ने उस निगहत सुल्ताना की मरम्मत क्यों ज़रूरी समझी। सच पूछिए तो मैंने पिछले दिनों ही इस झगड़े की ख़बर पढ़ी तो निगहत सुल्ताना का नाम सुना। मालूम नहीं, यह मोहतरमा कब और कैसे ऐक्ट्रेस बनीं। सुना है ढाके की रहने वाली हैं...होगा। देखिए इस मुक़दमें का क्या फ़ैसला होता है?

नूरजहाँ का ख़ाविन्द बाँका छबीला सैय्यद शौकत हुसैन रिज़वी मौजूद है। उसकी ख़ूबसूरत औलाद है। वह माँ है। उसके लिए लाहौर का हज्जाम अपनी रान का नहीं तो अपने बाज़ू का पाव भर गोश्त दे सकता है। उसका चार बरस का आशिक शाहिद जलाल उर्फ़ टाकू है जो हर वक़्त उसको दुल्हन बनाने के ख़्वाब देखता रहता है। वह बावर्ची है जो उसकी तस्वीर चूल्हे के पास रखकर खाना पकाते हैं, जो बर्तन माँजते वक़्त उसके गाये हुए गाने अपनी कनसुरी आवाज़ में गाते हैं और यूँ अपनी मशक़्क़त का बोझ हल्का करते हैं और एक मैं हूँ जो उसकी वाहियात अँगिया देख कर अपनी आँखें बन्द कर लेता हूँ। मालूम नहीं वह इतनी उठान में क्या ख़ूबसूरती देखती है और सैय्यद शौकत हुसैन रिज़वी इस ज़्यादती की इज़ाज़त क्यों देता है जो बा ज़ौक निगाहों पर बहुत गिरां गुज़रती है।

---

1. महमूद ग़ज़नवी का ग़ुलाम जिसे वह बहुत चाहता था।

के.के.

यह उस मशहूर ऐक्ट्रेस का नाम है जो हिन्दुस्तान की अनगिनत फ़िल्मों में आ चुकी है और आपने यक़ीनन उसे रुपहले पर्दे पर कई मरतबा देखा होगा। मैं जब भी उसका नाम किसी फ़िल्म के इश्तहार में देखता हूँ तो मेरी कल्पना में उसकी शक्ल बाद में, लेकिन उसकी नाक सबसे पहले उभरती है—तीखी, बहुत तीखी नाक और फिर मुझे बॉम्बे टॉकीज़ का वह दिलचस्प वाक़या याद आ जाता है, जो मैं अब बयान करने वाला हूँ।

बँटवारे पर जब पंजाब के फ़सादात शुरू हुए तो कुलदीप कौर, जो लाहौर में थी और वहाँ फ़िल्मों में काम कर रही थी, अपना वतन छोड़ कर बम्बई चली गयी। उसके साथ उसका ख़ास दोस्त "प्राण" भी था, जो पंचोली की कई फ़िल्मों में काम करके शोहरत हासिल कर चुका था।

अब प्राण का ज़िक्र आया है तो उसके बारे में भी कुछ पंक्तियाँ बतौर परिचय लिखने में कोई हर्ज नहीं। प्राण अच्छा-ख़ासा ख़ुशशक्ल मर्द है। लाहौर में उसकी शोहरत इस वजह से भी थी कि वह बड़ा ही ख़ुशपोश था। बहुत ठाठ से रहता था। उसका ताँगा-घोड़ा लाहौर के रईसी ताँगों में से सबसे ज़्यादा ख़ूबसूरत और दिलकश था।

मुझे मालूम नहीं, प्राण से कुलदीप कौर की दोस्ती कब और किस तरह हुई, इसलिए कि मैं लाहौर में नहीं था, लेकिन फ़िल्मी दुनिया में दोस्तियाँ कोई अजीब बात नहीं। वहाँ एक फ़िल्म की शूटिंग के दौरान ऐक्ट्रेसों की मित्रता एक ही समय में कई मर्दों से हो सकती है जो उस फ़िल्म से जुड़े हुए हों।

जिन दिनों प्राण और कुलदीप कौर का प्रेम-प्रसंग चल रहा था, उन दिनों श्याम मरहूम भी वहीं था। पूना और बम्बई में क़िस्मत आज़माई करने के बाद वह लाहौर चला गया था, जिससे उसे प्रेमियों जैसी मुहब्बत थी। इश्क़ पेशा इंसान था और कुलदीप भी इस मैदान में उससे पीछे नहीं थी...दोनों का आमना-सामना हुआ। क़रीब था कि वो एक-दूसरे में समा जाते कि एक और लड़की श्याम की ज़िन्दगी में दाख़िल हो गयी।

उसका नाम "मुमताज़" था जो ताजी के नाम से मशहूर हुई। वह ज़ेब कुरैशी, एम.ए. की छोटी बहिन थी। कुलदीप को श्याम की यह कलाबाज़ी पसन्द न आयी, चुनांचे वह उससे नाराज़ हो गयी और हमेशा नाराज़ रही। मैं यहाँ आपको यह बता दूँ कि कुलदीप बड़ी हठीली औरत है। जो बात उसके दिमाग़ में समा जाये उस पर अड़ी रहती है। मैं आपको एक दिलचस्प बात बताऊँ। यह घटना बम्बई की है।

हम तीनों 'बॉम्बे टॉकीज़' में थे और शाम को लोकल ट्रेन से अपने घर जा रहे थे। फ़र्स्ट क्लास का डिब्बा उस दिन तक़रीबन ख़ाली था। हम तीनों के सिवा उसमें और कोई मुसाफ़िर न था।

श्याम स्वभाव से बहुत ऊँचा बोलने वाला और मुँह फट था। जब उसने देखा कि कम्पार्टमेण्ट में कोई ग़ैर नहीं तो उसने कुलदीप कौर से छेड़ख़ानी शुरू कर दी। लेकिन मैं समझता हूँ कि उसका असल मक़सद यह था कि वह रिश्ता जो लाहौर में क़ायम होते-होते रह गया था अब यहाँ बम्बई में क़ायम हो जाये। क्योंकि ताजी से उसकी खटपट हो गयी थी। रमोला कलकत्ता में थी और निगार सुल्ताना गीतकार मधोक के पास। वह उन दिनों, बक़ौल उसके, 'ख़ाली हाथ' था।

इसलिए उसने कुलदीप कौर से कहा, "के.के. तुम मुझसे दूर-दूर क्यों रहती हो। इधर आओ मेरी जान, मेरे पास बैठो।" कुलदीप की नाक और तीखी हो गयी।

"श्याम साहब, आप मुझ पर डोरे न डालें।"

मैं उनकी गुफ़्तगू, जो मुझे मुकम्मल तौर पर याद है, यहाँ बयान करना नहीं चाहता, क्योंकि वह बहुत बेबाक थी। वैसे उसकी रूह अपने शब्दों में बयान किये देता हूँ। श्याम कभी संजीदगी से बात नहीं करता था। उसके हर लफ़्ज़ में एक क़हक़हा होता था। उसने कुलदीप से उसी ख़ास अन्दाज़ में कहा "जान-ए-मन, उस उल्लू के पट्ठे प्राण को छोड़ दो और मेरे साथ नाता जोड़ो। वह मेरा दोस्त है, लेकिन यह मामला बड़ी आसानी से तय हो सकता है।"

कुलदीप कौर की आँखें उसकी नाक की तरह बड़ी और तीखी हैं। उसके होंटों का फैलाव भी बड़ा तीखा है। उसके चेहरे का हर नख-शिख तीखा है। जब वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखें झपका कर बात करती है तो आदमी बौखला जाता है कि यह क्या मुसीबत है।

उसने तेज़-तेज़ निगाहों से श्याम की तरफ़ देखा और इससे ज़्यादा तेज़ लहजे में उससे कहा, "मुँह धोकर रखिए श्याम साहब।"

श्याम पर औरतों की तीखी तेज़ बातों का भला क्या असर होता! उसने एक क़हक़हा लगाया और कहा, "के.के. मेरी जान, तुम लाहौर में मुझ पर मरती थीं। याद नहीं तुम्हें।"

अब कुलदीप ने क़हक़हा लगाया जिसमें औरतों जैसा तंज़ भरा था, "आपको वहम हो गया था।"

श्याम ने कहा, "तुम ग़लत कहती हो। तुम यक़ीनन मुझ पर मरती हो।"

मैंने कुलदीप की तरफ़ देखा और मुझे महसूस हुआ कि उसकी देह में अपने आपको सौंप देने की ख़्वाहिश मौजूद है, मगर उसका हठीला दिमाग़ उसकी इस ख़्वाहिश को रद्द करने की कोशिश में जुटा हुआ है। चुनांचे उसने अपनी तीखी पलकें फड़फड़ा कर कहा, "मरती थी, लेकिन अब नहीं मरूँगी।"

श्याम ने अपने उसी बेपरवा अन्दाज़ में कहा, "अब नहीं मरोगी तो कल मरोगी। मरना बहरहाल तुम्हें मुझ पर ही है।"

कुलदीप कौर भन्ना गयी, "श्याम, तुम मुझ से आज आख़री बार सुन लो कि तुम्हारा-मेरा कोई सिलसिला नहीं हो सकता, तुम इतराते हो। हो सकता है लाहौर में कभी मेरी तबीयत तुम पर आयी हो, लेकिन जब तुमने बेरुख़ी बरती तो मैं क्यों तुम्हें मुँह लगाऊँ। अब उस क़िस्से को ख़त्म करो।"

किस्सा ख़त्म हो गया। सिर्फ़ वक़्ती तौर पर, क्योंकि श्याम ज़्यादा बहसा-बहसी का आदी नहीं था।

कुलदीप कौर अटारी के एक जाने-माने, मालदार सिक्ख घराने से ताल्लुक रखती है। उस घराने का एक आदमी लाहौर की एक मशहूर मुसलमान औरत से नत्थी है, जिसको उसने लाखों रुपये दिये और सुना है कि अब भी देता है।

यह मुसलमान औरत किसी ज़माने में यक़ीनन ख़ूबसूरत होगी, मगर अब मोटी और भद्दी हो गयी है। वह अटारी के सिक्ख हज़रत अब भी बाक़ायदा यहाँ लाहौर में फ़्लैटी होटल मे आते हैं और अपनी मुसलमान महबूबा के साथ चन्द रोज़ गुज़ार कर वापस चले जाते हैं।

जब बँटवारा हुआ तो कुलदीप कौर और प्राण को अफ़रा-तफ़री में लाहौर छोड़ना पड़ा। प्राण की मोटर (जो ग़ालिबन कुलदीप कौर की मिल्क़ियत थी) यहीं रह गयी। लेकिन कुलदीप कौर एक हिम्मती औरत है। इसके अलावा उसे यह भी मालूम है कि वह मर्दों को अपनी उँगलियों पर नचा सकती है। इसलिए वह कुछ देर के बाद लाहौर आयी और फ़सादों के दौरान यह मोटर ख़ुद चला कर बम्बई ले गयी।

जब मैंने मोटर देखी और प्राण से पूछा कि यह कब ख़रीदी गयी है तो उसने मुझे सारी घटना सुनाई कि के.के. लाहौर से ले कर आयी है और यह कि रास्ते में उसे कोई तकलीफ़ नहीं हुई। सिर्फ़ दिल्ली में उसे चन्द रोज़ ठहरना पड़ा कि एक गड़बड़ हो गयी थी। यह गड़बड़ क्या थी, इसके बारे में मुझे कुछ पता नहीं।

जब वह मोटर ले कर अयी तो उसने सिक्खों पर मुसलमानों के ज़ुल्म बयान किये और इस अन्दाज़ से बयान किये कि मालूम होता था, वह मेज़ पर से मक्खन लगाने वाली छुरी उठाएगी और मेरे पेट में घोंप देगी। लेकिन मुझे बाद में मालूम हुआ कि वह जज़्बाती हो गयी थी वरना मुसलमानों से उसे कोई अदावत या बैर नहीं।

असल में उसका कोई मज़हब नहीं। वह सिर्फ़ औरत है। एक ऐसी औरत जो जिस्मानी लिहाज़ से बड़ी साफ़-सुथरी और निश्छल है।

उसकी नाक बेहद तीखी है। उसकी आँखें बहुत तेज़ हैं। उसके होंटों और मुँह का सुराख़ बहुत बारीक है...

यही वजह है कि उसके चेहरे पर ज़रा-सा चढ़ाव बहुत तेज़ और तीखा बन जाता है। इसके अलावा उसका लहजा और उसकी आवाज़ भी ग़ैरमामूली तौर पर तीखी है।

कुलदीप कौर की तीखी नाक का ज़िक्र मैं कई बार कर चुका हूँ। इस सिलसिले में आप एक लतीफ़ा सुन लीजिए।

मैं 'फ़िल्मिस्तान' छोड़ कर अपने दोस्त अशोक कुमार और सावक वाचा के साथ 'बॉम्बे टॉकीज़' चला गया था। उस ज़माने में दंगों की शुरुआत थी। उसी दौरान कुलदीप कौर और उसका दोस्त प्राण मुलाज़मत के लिए वहाँ आया।

प्राण से जब मेरी मुलाक़ात श्याम के माध्यम से हुई तो मेरी-उसकी फ़ौरन दोस्ती हो गयी। बड़ा पाखण्ड रहित आदमी है। कुलदीप कौर से अलबत्ता कुछ रस्मी क़िस्म की

मुलाक़ात रही।

उन दिनों तीन फ़िल्में हमारे स्टूडियो में शुरू होने वाली थीं। चुनांचे जब कुलदीप कौर ने मिस्टर सावक वाचा से मुलाक़ात की तो उन्होंने जर्मन कैमरामैन, जोज़ेफ़ वॉशिंग से कहा कि वह उसका कैमरा टैस्ट कर ले, ताकि इत्मीनान हो जाये।

वॉशिंग गोरे रंग और अधेड़ उम्र का मोटा-सा आदमी है। उसको दिवंगत हिमांशु राय अपने साथ जर्मनी से लाये थे। जब जंग शुरू हुई तो उसे देवलाली में नज़रबन्द कर दिया गया। एक अर्से तक वहाँ रहा। जब जंग ख़त्म हुई तो उसे रिहा कर दिया गया और वह फिर वापस 'बॉम्बे टॉकीज़' में आ गया। इसलिए कि मिस्टर वाचा से उसके दोस्ताना ताल्लुक़ात थे। अर्सा हुआ वे 'बॉम्बे टॉकीज़' में इकट्ठे एक-दूसरे के साथ काम करते रहे थे। उन दिनों मिस्टर वाचा साउण्ड रिकार्डिस्ट थे।

वॉशिंग ने स्टूडियो में रोशनी का इन्तज़ाम कराया और मेकअप मैन से कहा कि वह कुलदीप कौर को तैयार कर के कैमरा टेस्ट के लिए लाये। वह ख़ुद तैयार था। कैमरा नया था। उसको उसने अच्छी तरह देखा। रोशनियाँ दुरुस्त कराईं और अपना चुरट सुलगा कर एक तरफ़ खड़ा हो गया।

कुलदीप कौर आयी। मैंने उसे देखा उसकी नाक पर मेकअप मैन ने सुर्ख़ी और सफ़ेदे के कुछ ऐसे ख़त लगाये थे कि वह दस गुना और तीखी हो गयी थी। जब वॉशिंग ने उसको देखा तो वह घबरा गया, क्योंकि वह सिर से पैर तक नाक थी।

कुलदीप कौर बिलकुल बेख़ौफ़, बेझिझक कैमरे के सामने खड़ी हो गयी। वॉशिंग ने अब उसको कैमरे की आँख से देखा। मगर मैं महसूस कर रहा था कि उसको बड़ी उलझन हो रही है। वह उसकी नाक ऐसे कोण पर बैठाने की कोशिश कर रहा था कि वह ऐबदार मालूम न हो।

बेचारा इस कोशिश में पसीना-पसीना हो गया। आख़िर उसने थक-हार कर मुझसे कहा मैं अब एक कप चाय पियूँगा। मैं सारा मामला समझ गया था। इसलिए हम दोनों कैण्टीन में पहुँच गये। वहाँ उसने अपना पसीना पोंछते हुए मुझसे कहा, "मिस्टर मंटो उसकी नाक भी एक आफ़त है। कैमरे में घुसी चली आती है। चेहरा बाद में आता है, नाक पहले आती है। अब मैं क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।"

"मेरी समझ में ख़ुद कुछ नहीं आता," मैंने कहा, "तुम जानो, तुम्हारा काम जाने।"

फिर उसने एक और उलझन का इज़हार किया। लेकिन वह मेरे कान में—"मिस्टर मंटो...उसका वह मामला ठीक नहीं है, लेकिन मैं उससे कैसे कहूँ?" और यह कह कर मोटे वॉशिंग ने अपना पसीना फिर पोंछा।

मैं उसका मतलब समझ गया। लेकिन वॉशिंग ने फिर भी मुझे साफ़-साफ़ सब कुछ बता दिया और मुझसे दरख़्वास्त की कि मैं के.के. से कहूँ कि वह इस मामले को ठीक करे कि वह बहुत ज़रूरी है। नाक का वह कोई-न-कोई कोण निकाल लेगा। मगर इस मामले के बारे में वह कुछ भी नहीं कर सकता कि यह उसका काम है। मैंने उसे तसल्ली दी कि मैं सब ठीक कर दूँगा। क्योंकि उसने मुझे इस मामले की दुरुस्ती का हल बता दिया था कि जो पैंतीस

रुपये में वाइटवे एण्ड लेडला की दुकान से प्राप्त किया जा सकता था।

उस रोज़ टेस्ट किसी बहाने टाल दिया गया। कुलदीप जब स्टूडियो से बाहर निकली तो मैंने तकल्लुफ़ी से सारी बात, जो इस मामले के ताल्लुक़ रखती थी, उसे बता दी और उससे कहा कि वह आज ही फ़ोर्ट जा कर वह चीज़ ख़रीद ले जिससे उसके जिस्म का नुक़्स दूर हो जायेगा। उसने बिला झिझक मेरी बात सुनी और कहा कि यह कौन-सी बड़ी बात है। चुनांचे वह उसी वक़्त "प्राण" के साथ गयी और वह चीज़ ख़रीद लाई। जब दूसरे रोज़ स्टूडियो में उससे मुलाक़ात हुई तो ज़मीन-आसमान का फ़र्क था। ये चीज़ें ईजाद करने वाले भी बला के आदमी हैं, जो यूँ चुटकियों में मामलों को कहाँ-से-कहाँ पहुँचा देते हैं।

वॉशिंग ने जब उसे देखा तो उसे इत्मीनान हो गया। गो कुलदीप की नाक उसे तंग कर रही थी, मगर अब दूसरा मामला बिलकुल ठीक था। इसलिए उसने टेस्ट लिया और जब उसका प्रिण्ट तैयार हुआ और हम सब ने उसे अपने प्रोजेक्शन हॉल में देखा तो उसकी शक्ल-ओ-सूरत को पसन्द किया और यह राय आम तौर पर क़ायम हुई कि वह ख़ास भूमिकाओं के लिए बहुत अच्छी रहेगी। ख़ासकर वैम्प के रोल के लिए। कुलदीप कौर से मुझे ज़्यादा मिलने-जुलने का इत्तफ़ाक़ नहीं हुआ। प्राण चूँकि दोस्त था और उसके साथ अक्सर शामें गुज़रती थीं, इसलिए कुलदीप भी कभी-कभी हमारे साथ शरीक हो जाती थी। वह एक होटल में रहती थी, जो समन्दर के किनारे के पास था। प्राण भी उससे कुछ दूर एक स्क्वेयर में ठहरा हुआ था, जहाँ उसकी बीवी और बच्चा भी था, लेकिन उसका ज़्यादा वक़्त कुलदीप कौर के साथ गुज़रता था। मैं अब आपको एक दिलचस्प घटना सुनाता हूँ।

मैं और श्याम ताज होटल में बियर पीने जा रहे थे कि रास्ते में मशहूर गीतकार मधोक से मुलाक़ात हो गयी। वे हमें 'इरॉस सिनेमा' के बार में ले गये। वहाँ हम सब देर तक बियर पीने में मशग़ूल रहे। मधोक टैक्सियों का बादशाह मशहूर है। बाहर एक गराण्डील टैक्सी खड़ी थी। वह मधोक साहब के पास तीन दिन से थी।

जब हम पी-पिला चुके तो उन्होंने पूछा कि हमें कहाँ जाना है। मधोक साहब को अपनी महबूबा निगार सुल्ताना के पास जाना था, जिससे किसी ज़माने में श्याम का भी ताल्लुक था और कुलदीप कौर भी उसके आस-पास ही रहती थी। श्याम ने मुझसे कहा, "चलो, प्राण से मिलते हैं।"

सो, मधोक साहब की टैक्सी में बैठ कर हम वहाँ पहुँचे। वे तो अपनी निगार सुल्ताना के पास चले गये और हम दोनों कुलदीप कौर के यहाँ। प्राण वहाँ बैठा था। एक छोटा-सा कमरा था। बियर पी हुई थी। उनींदापन तारी था। उसके असर को कम करने के लिए श्याम ने सोचा कि ताश खेलनी चाहिए। कुलदीप फ़ौरन तैयार हो गयी, लेकिन यह कहा कि फ़्लश होगी। हम मान गये।

फ़्लश शुरू हो गयी। कुलदीप और प्राण एक साथ थे। प्राण ही पते बाँटता था। वही उठाता था और कुलदीप उसके कन्धे के साथ अपनी नुकीली ठोड़ी टिकाए बैठी थी। अलबत्ता, जितने रुपये प्राण जीतता था, उठा कर अपने पास रख लेती थी।

इस खेल में हम सिर्फ़ हारा किए। मैंने फ़्लश कई मरतबा खेली है, लेकिन वह फ़्लश

कुछ अजीबो-ग़रीब क़िस्म की थी। मेरे पचहत्तर रुपये पन्द्रह मिनट के अन्दर-अन्दर कुलदीप कौर के पास थे। मेरी समझ में नहीं आता था कि आज पत्तों को क्या हो गया है कि ठिकाने के आते ही नहीं।

श्याम ने जब यह रंग देखा तो मुझसे कहा, "मंटो अब बन्द करो।"

मैंने खेलना बन्द कर दिया। प्राण मुसकराया और उसने कुलदीप से कहा, "के. के., पैसे वापस कर दो मंटो साहब के।"

मैंने कहा यह ग़लत है। तुम लोगों ने जीते हैं। वापसी का सवाल ही कहाँ पैदा होता है। इस पर प्राण ने मुझे बताया कि वह अव्वल दर्जे का पत्तेबाज़ है। उसने जो कुछ मुझसे जीता है, अपनी चाबुक़दस्ती की बदौलत मुझसे जीता है। चूँकि मैं उसका दोस्त हूँ, इसलिए वह मुझसे धोखा करना नहीं चाहता। मैं पहले समझा कि वह इस हीले से मेरे रुपये वापस करना चाहता है, लेकिन जब उसने ताश की गड्डी उठा कर तीन-चार बार पत्ते बाँटे और हर बार बड़े दाँव जीतने वाले पत्ते अपने पास गिराए तो मैं उसके हथकण्डे का क़ायल हो गया। यह काम सचमुच बड़ी चाबुक़दस्ती का है। प्राण ने फिर कुलदीप कौर से कहा कि वह रुपये वापस कर दे, मगर उसने इनकार कर दिया। श्याम कबाब हो गया। प्राण नाराज़ हो कर चला गया। ग़ालिबन उसे अपनी बीवी के साथ कहीं जाना था। श्याम और मैं वहीं बैठे रहे। थोड़ी देर श्याम उससे बातचीत करता रहा, फिर उसने कहा, "आओ, चलो, सैर करें।" कुलदीप राज़ी हो गयी।

टैक्सी मँगवाई गयी। हम सब भायखला रवाना हुए। क्लेयर रोड पर मेरा फ़्लैट था। हम सीधे वहाँ पहुँचे। घर में उन दिनों कोई भी नहीं था। श्याम मेरे साथ रहता था। हम फ़्लैट में दाख़िल हुए तो श्याम ने कुलदीप से छेड़ख़ानी शुरू कर दी। कुलदीप बहुत जल्द तंग आने वाली औरत नहीं। वह किसी मर्द से घबराती भी नहीं। उसको ख़ुद पर पूरा-पूरा भरोसा है। चुनांचे वह देर तक श्याम के साथ हँसती-खेलती रही।

हाँ, मैं आपको यह बताना भूल गया कि जब हम क्लेयर रोड पर पहुँचे तो कुलदीप ने एक स्टोर के पास टैक्सी रोकने के लिए कहा कि वह सेण्ट की शीशी ख़रीदना चाहती है। श्याम सख़्त कबाब था कि वह उस रुपये से हर चीज़ ख़रीदेगी, जो प्राण ने पत्तेबाज़ी के ज़रिये मुझसे जीते थे, पर मैंने उससे कहा, कोई हर्ज नहीं। तुम इस बात का कुछ ख़याल न करो। हटाओ इस क़िस्से को। कुलदीप के साथ मैं स्टोर में गया। उसने पारडे का सेण्ट पसन्द किया। उसकी क़ीमत बाईस रुपये आठ आने थी। कुलदीप ने ख़ूबसूरत शीशी अपने पर्स में रखी और मुझसे कहा, "मंटो साहब क़ीमत अदा कर दीजिए।"

मैं उस सेण्ट के दाम हर्गिज़ अदा नहीं करना चाहता था, मगर दुकानदार मेरा वाक़िफ़ था और फिर एक औरत ने इस अन्दाज़ से मुझसे क़ीमत अदा करने को कहा था कि इंकार करना मर्दाना मान-मर्यादा को ठेस लगाने का काम करता। लिहाज़ा मैंने जेब से रुपये निकाले और अदा कर दिये। फ़्लैट में जब श्याम को मालूम हुआ कि सेण्ट मैंने ख़रीद कर दिया है तो वह आग-बगूला हो गया। उसने मुझे और कुलदीप कौर को पेट भर कर गालियाँ दीं। लेकिन बाद में नर्म हो गया। उसका असल मक़सद यह था कि कुलदीप किसी-न-किसी तरह राम, न

हो जाये। मैंने भी कोशिश की और कुलदीप कौर को समझाया कि अब उनके आपसी मतभेद मिट जाने चाहिए। कुलदीप मान गयी। मैंने श्याम और उससे कहा कि मैं जाता हूँ, तुम दोनों आपस में समझौता कर लो, मगर उसने कहा कि नहीं, यह समझौता उसके होटल में होगा। टैक्सी नीचे खड़ी थी। दोनों उसमें चले गये।

मैं ख़ुश था कि चलो, यह क़िस्सा तय हुआ।

मगर पौन घण्टे बाद ही श्याम लौट आया। सख़्त गुस्से में भरा हुआ था। मैंने उसे जब ब्राण्डी का गिलास पेश किया तो मैंने देखा कि उसका हाथ ज़ख़्मी है। ख़ून बह रहा है। मैंने बहुत चिन्तित हो कर पूछा। वह कबाब था, लेकिन ब्राण्डी ने उसके मूड को किसी क़दर दुरुस्त कर दिया। उसने बताया कि जब वह के.के. के साथ उसके होटल में पहुँचा और वे टैक्सी से बाहर निकले तो वह (कुलदीप को गाली दे कर) अपनी बात से फिर गयी। “मुझे सख़्त ग़ुस्सा आया। हम दोनों एक पथरीली दीवार के पास खड़े थे। मैंने उससे कहा, तुम लाहौर में मुझ पर मरती थीं, अब यह क्या नख़रा है। उसने जवाब में कुछ ऐसी बात कही कि मेरे तन-बदन में आग लग गयी। मैंने तान कर घूँसा मारा, मगर वह...एक तरफ़ हट गयी और मेरा घूँसा दीवार के साथ जा टकराया। वह हँसती, क़हक़हे लगाती, ऊपर होटल में चली गयी और मैं खड़ा अपना ज़ख़्मी हाथ देखता रहा।”

कुलदीप कौर अजीबो-ग़रीब शख़्सियत की मालिक है। जिस तरह उसकी नाक तीखी है, उसी तरह उसका किरदार तीखा और नोकीला है।

पिछले दिनों यह ख़बर आयी थी कि उस पर हिन्दुस्तान में पाकिस्तान की जासूसी का इल्ज़ाम लगाया गया है। मालूम नहीं, इसमें कहाँ तक सच्चाई है, लेकिन मैं भरोसे के साथ इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि उस जैसी औरत माताहारी कभी नहीं बन सकती, जिसका अन्दर-बाहर एक हो।

सितारा

लिखने के मामले में मैंने बड़े-बड़े कड़े मराहिल तय किये हैं लेकिन मशहूर रक़्क़ासा और एक्ट्रेस सितारा के बारे में अपने तासुरात कलमबन्द करने में मुझे बड़ी हिचकिचाहट का सामना करना पड़ा है। आप तो उसे एक एक्ट्रेस की हैसियत से जानते हैं जो नाचती भी है और ख़ूब नाचती है लेकिन मुझे उसके किरदार का मुतालिआ करने का भी मौक़ा मिला है जो अजीब-ओ-ग़रीब है।

मैंने अपनी ज़िन्दगी में कई औरतों के किरदार-ओ-इतवार का मुतालिआ किया है लेकिन हक़ीक़त यह है कि जब सितारा के हालात-ए-ज़िन्दगी मुझे आहिस्ता-आहिस्ता मालूम हुए तो मैं चकरा गया। वह औरत नहीं एक तूफ़ान है और वह भी ऐसा तूफ़ान जो सिर्फ़ एक मरतबा आ के नहीं टलता। बार-बार आता है। सितारा यूँ तो मियाना क़द की औरत है मगर बला की मज़बूत है। उसने जितनी बीमारियाँ सही हैं मेरा ख़याल है अगर किसी और औरत पर नाज़िल होतीं तो वह कभी जा-बर न हो सकती। वह तब अब बहुत हौसला मन्द है, शायद इसलिए कि वह कसरत की आदी है।

मैंने देखा है कि सुबह-सबेरे उठकर वह कम-अज़-कम एक घण्टे तक रियाज़त करती थी और यह रियाज़त कोई मामूली रियाज़त नहीं होती थी। एक घण्टा भरपूर नाचना हड्डियों तक को थका देता है मगर सितारा मुझे कभी थकी-थकी दिखायी नहीं दी। अस्ल में उसमें वह चीज़ जिसे अंग्रेज़ी में Passion कहते हैं ब-दर्जा-ए-अतम मौजूद है। वह थकने वाली जिन्स नहीं दूसरे थक-हार जायेंगे मगर वह वैसी की वैसी रहेगी जैसे उसने कोई मशक़्क़त नहीं की। उसको अपने फ़न से प्यार है उसी वालहाना क़िस्म का जो वह मुख़्तलिफ़ मर्दों से करती रही है।

मामूली से डांस के लिए वह इतनी मेहतन करेगी जितनी कोई रक़्क़ासा उम्र भर नहीं कर सकती। उसकी तबीयत में उपज है। वह हमेशा कोई ख़ास बात करना चाहेगी। चलत-फिरत जो एक नटनी में हो सकती है उसमें ज़रूरत से ज़्यादा मौजूद है। वह एक सेकण्ड के लिए भी निश्चिन्त नहीं बैठ सकती। उसकी बोटी-बोटी थिरकती रहती है।

कहा जाता है कि वह नेपाल की रहने वाली है। मुझे उसके मुताल्लिक़ हिम्मती तौर पर कुछ मालूम नहीं, लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि सितारा के अलावा उसकी दो बहिनें और थीं। ये त्रिशूल यूँ मुकम्मल होता है 'तारा', 'सितारा' और 'अलकनन्दा।' 'तारा' और 'अलकनन्दा' तो अब क़रीब-क़रीब माटूम हो चुकी हैं। मेरा ख़याल है उनका नाम भी किसी को याद नहीं होगा।

इन तीन बहिनों की ज़िन्दगी वैसे बहुत दिलचस्प है। तारा की कई मर्दों से बाबस्तगी रही। उस हुजूम में एक शौकत हाशमी भी है जो अब तक कई पापड़ बेल चुके हैं। हाल ही में

उनकी बीवी पूर्णिमा ने उनसे तलाक़ ली है और वह इस सिलसिले में बड़े दर्दनाक बयान दे चुके हैं। ‘अलकनन्दा’ कई हाथों से गुज़री और आख़िर में प्रभात के शोहरत याफ़्ता ऐक्टर बलवन्त सिंह के पास पहुँची। उसके पास वह अभी तक है या नहीं इसका मुझे इल्म नहीं।

इन तीनों बहिनों की ज़िन्दगी की रूदाद अगर लिखी जाये तो हज़ारों सफ़हे काले किये जा सकते हैं। लोग मुझे कोसते हैं कि में फुहश-निगार हूँ, गन्दा ज़ेहन हूँ, लेकिन वो यह नहीं सोचते कि इस दुनिया में कैसी-कैसी हस्तियाँ मौजूद हैं। मैं इन्हें फुहश नहीं कहता। मैं तो सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि या तो कोई आदमी माहौल के बायस मज़यूमी हरकात का मुरतकिब होता है या अपनी जिबिल्लत के बायस।

जो चीज़ आपको फ़ितरत ने अता की है उसकी इसलाह नफ़सियाती एलाज से किसी हद तक हो सकती है लेकिन अगर आप इससे ग़ाफ़िल रहे हैं तो इसकी ज़िम्मेवारी किस पर आयद होती है। यह ज़रा सोचने की बात है।

तारा, सितारा और अलकनन्दा तीन बहिनें किसी के यहाँ पैदा हुईं। ग़ालबन नेपाल के किसी गाँव में। वहाँ से वह एक-एक करके बम्बई आयीं कि फ़िल्मी दुनिया में क़िस्मत आज़मायी करें, लेकिन यह मुक़द्दर की बात है कि सिर्फ़ सितारा का सितारा चमका, जो बाक़ी दो थीं वे टिमटिमाती रह गयीं।

सितारा के मुताल्लिक़ जैसा कि मैं इस मज़मून के आगाज़ में कह चुका हूँ पूरी तफ़सील से लिखते हुए झिझकता हूँ। वह औरत नहीं कई औरतें है। उसने इतने जिन्सी सिलसिले किये हैं कि मैं इस मुख़्तसर मज़मून में उनका अहाता नहीं कर सकता।

अंग्रेज़ी ज़बान में ऐसी औरत को निमफोनिक कहा जाता है, यह औरत की एक ख़ास क़िस्म है जो एक मर्द के अलावा और सैकड़ों से ताल्लुक क़ायम करती है।

सितारा का मैं जब भी तसव्वुर करता हूँ तो वह मुझे बम्बई की पाँच मंज़िला बिल्डिंग मालूम होती है। जिसमें कई फ़्लैट और कई कमरे हों और यह वाक़ई है कि वह बयक वक़्त कई मर्द अपने दिल में बसाए रखती थी। मुझे इतना मालूम है कि जब वह बम्बई में आयी तो उसका ताल्लुक़ एक गुजराती फ़िल्म डायरेक्टर से हुआ। जिसका पूरा नाम मुझे याद नहीं रहा। वह डेसाई था। दुबला-पतला मरियल क़िस्म का इन्सान, लेकिन था बहुत खूबियों का मालिक। अपने काम में काफ़ी होशियार था, मगर क़िस्मत ने उसका यावरी न की। चूँकि ज़िद्दी था इसलिए जगह-जगह ठुकराया गया। उससे मेरी मुलाक़ात उस ज़माने में हुई जब सरोज फ़िल्म कम्पनी ज़िन्दा थी—लेकिन अस्ल में ज़िन्दा दर गोर थी। मेरी उसकी फ़ौरन दोस्ती हो गयी इसलिए कि वह फ़न शनास था और अदबी ज़ौक भी रखता था। उसी दौरान में मुझे मालूम हुआ कि सितारा उसकी बीवी है, लेकिन उससे जुदा हो गयी है। डेसाई को मगर उस जुदाई का इतना रंज था कि उसकी बातों से मुझे सिर्फ़ इतना मालूम हुआ कि वह उस औरत से पूरा निबट नहीं सकता था।

सितारा उस ज़माने में किसी और के पास थी लेकिन कभी-कभी अपने शौहर डेसाई के पास भी आ जाती थी, वह खुद्दार इंसान था इसलिए वह उससे उमूमन बे-एतनाई बरतता था और उसे मुख़्तसर मुलाक़ात के बाद रुख़्सत कर दिया करता था।

हिन्दुओं के मज़हब के मुताबिक़ कोई औरत तलाक़ नहीं ले सकती। डेसाई से सितारा की शादी हिन्दू कानून के मातहत हुई थी। इसलिए अब भी वह मिसेज़ डेसाई है। हालाँकि वह कई मर्दों से मुंसलिक हो कर उनसे अलाहिदगी इख़्तियार कर चुकी है। मैं यह उस ज़माने की बात कर रहा हूँ जब डायरेक्टर महबूब का सितारा मायल ब उरूज था। महबूब ने उसे अपने किसी फ़िल्म में लिया तो उसके साथ सितारा के जिन्सी तालुक़ात फ़ौरन क़ायम हो गये। उसकी रूदाद मेरा कलम बयान नहीं कर सकता। सिर्फ़ बिव्बो (इशरत जहाँ) की ज़बान ही बयान कर सकती है।

आउट डोर शूटिंग के सिलसिले में महबूब को हैदराबाद जाना पड़ा था। वहाँ महबूब साहब-हस्ब-ए-दस्तूर बाक़ायदा नमाज़ पढ़ते थे और बाक़ायदा सितारा से इश्क़ फ़रमाते थे। मैं यह सब कुछ लिखने में हिचकिचा रहा हूँ। असल में सितारा एक “केस हिस्ट्री” है। उस पर नफ़सियात के किसी माहिर ही को लिखना चाहिए था। बम्बई में एक स्टूडियो फ़िल्मसिटी था। महबूब ने ग़ालबन उसी में अपनी कोई पिक्चर बनाना शुरू की थी। उन दिनों वहाँ साउण्ड रिकॉर्ड करने वाले मिस्टर पी.एन. अरोड़ा थे (जो अब मशहूर प्रोड्यूसर हैं) बड़े मेहनती क़िस्म के नौजवान। फ़ज़ल भाई ने जो फ़िल्मसिटी के करता धरता थे उनको विलायत भेजा था कि वह सदाबन्दी का काम सीख के आयें। उसी ज़माने में सेठ शीराज़ अली हकीम भी वहीं थे और लेबॉट्री के इंचार्ज़ थे। डायरेक्टर महबूब से तो सितारा का सिलसिला चल रहा था, लेकिन बक़ौल दीवान सिंह मफ़तून एडीटर रियासत देहली उसका टाँका पी.एन. अरोड़ा से भी मिल गया।

डायरेक्टर महबूब ने फ़िल्म ख़त्म किया तो सितारा पी.एन. अरोड़ा के यहाँ बतौर बीवी या दाश्ता के रहने लगी। लेकिन इस दौरान में एक और हादसा दरपेश आया। फ़िल्मसिटी ही में था (किसी और स्टूडियो में जहाँ सितारा काम कर रही थी) एक नौ वारिद अल नासिर तशरीफ़ लाये। यह बड़े ख़ूबसूरत जवान थे कम उम्र, ताज़ा-ताज़ा देहरादून से तालीम महासिल करके आये थे। गाल सुर्ख़-ओ-सफ़ेद थे। उनको शौक़ था कि फ़िल्मी दुनिया में दाख़िल हों।

जब आये तो फ़ौरन उन्हें एक फ़िल्म में रोल मिल गया। इत्तफ़ाक़ से उसके कास्ट में सितारा भी शामिल थी जो बयक वक़्त पी.एन. अरोड़ा डायरेक्टर महबूब और अपने असलर ख़ाविन्द मिस्टर डेसाई के पास आया जाया करती थी।

मालूम नहीं यह पहले की बात है या बाद की मगर सितारा की दोस्ती नज़ीर से भी हो गयी। जिसकी पहली दाश्ता जो कि एक यहूदन ऐक्ट्रेस समीन थी उसे दाग़-ए-मुफ़ारक़त दे गयी थी। मुझे मालूम नहीं किन हालात में उन दोनों की मुलाक़ात हुई लेकिन मैं इतना ज़रूर जानता हूँ कि उन दोनों में गाढ़ी छनने लगी। ‘नज़ीर’ ‘सितारा’ का फ़रेफ़्ता था और ‘सितारा’ ‘नज़ीर’ पर अपनी जान छिड़कती थी।

मैं नज़ीर को अच्छी तरह जानता हूँ। वह बहुत सख़्त मिज़ाज का आदमी है। वह औरत को ताबेअ रखने के क़ायल है, औरत का ज़िक्र ही क्या। मर्द भी जो उसकी मुलाज़मत में हो उन्हें उसकी गालियाँ और घुर्कियाँ सहनी पड़ती हैं।

वह आदमी नहीं देव है, लेकिन बड़ा मुख़लिस देव। वह मेरा दोस्त है। जब कभी मुझसे मिलता है सलाम-दुआ के बजाय गालियाँ देता है, लेकिन मैं जानता हूँ कि वह बेरिया है उसका दिल खुलूस से मामूर है।

उस बेरिया और मुख़लिस आदमी ने सितारा को कई बरस बर्दाश्त किया। उसकी सख़्त गीर तबीयत के बायस सितारा को इतनी जुर्रत न हुई कि वह अपने पुराने आशनाओं से राह-ओ-रब्त क़ायम रखे, लेकिन वह औरत जो सिर्फ़ एक मर्द की रफ़ाक़त पर क़ानेअ न रहती हो उसका क्या ईलाज है। सितारा ने कुछ देर के बाद वही सिलसिला शुरू कर दिया, जिसकी वह आदी थी। अरोड़ा, अलनासिर, महबूब और उसका ख़ाविन्द डेसाई सब ही उसके इल्तिफ़ात से मुस्तफ़ीद होते रहे। यह चीज़ नज़ीर की खुद्दार तबीयत पर बहुत गिरां गुजरती थी। वह ऐसा आदमी है कि एक मरतबा किसी औरत से ताल्लुक़ क़ायम करे तो उसे निभाना चाहता है, मगर सितारा किसी और ही आब-ओ-गुल की बनी थी। वह 'नज़ीर' जैसे आदमी से भी मुतमईन नहीं थी।

मैं इसमें सितारा का कोई क़ुसूर नहीं देखता जो कुछ भी उससे सरज़द हुआ सरासर उसकी जिबिल्लत के बायस हुआ। कुदरत ने उसको इस तौर से बनाया है कि वह बादा-ए-हर जाम ही बनी रहेगी। कोशिश के बावजूद वह अपनी इस फ़ितरत के ख़िलाफ़ नहीं जा सकती।

यासमीन मोअतदिल औरत थी। ख़ूबसूरत, निस्वानियत का बड़ा अच्छा नमूना। मुझे अच्छी तरह याद है कि उसने जब 'नज़ीर' से मुसतक्लि घरेलू ज़िन्दगी बसर करने का इरादा ज़ाहिर किया तो नज़ीर ने जिसे हज़ारों अशख़ास बहुत सख़्तगीर समझते हैं यासमीन को इजाज़त दे दी कि वह जिस किसी के साथ शादी करना चाहती है कर सकती है।

मेरी समझ में नहीं आता कि नज़ीर और सितारा का जिस्मानी ताल्लुक़ इतनी देर कैसे क़ायम रहा। नज़ीर से मेरी मुलाक़ात हिन्दोस्तान सीनेटोन में हुई। यह वह ज़माना था जब फ़िल्म इण्डस्ट्री निहायत नाज़ुक हालत में थी। वह इस वजह से फ़ाइनेंनसर सट्टेबाज़ था। आज लाखों के मालिक हैं, दूसरे दिन दीवाला पिट रहा है...।

हिन्दोस्तान सीनेटोन पहले सरोज फ़िल्म कम्पनी थी। इससे पहले ख़ुदा मालूम उसका क्या नाम था। मैंने एक कहानी 'कीचड़' के उन्वान से लिखी। जब मैंने सेठ नानू भाई डेसाई को सुनाई तो उसने बेहद पसन्द की। मैं समझता हूँ कि उस ज़माने में जब कि हुकूमत की तरफ़ से सख़्त क़िस्म का एहतिसान आयद था कोई प्रोड्यूसर उस कहानी को फ़िल्माने की जुर्रत न करता मगर नानू भाई दिलेर आदमी था। उसने कहानी ले ली मगर बाद में माली मुश्किलात दरपेश आयीं तो वह मजबूर हो गया।

नज़ीर के लिए मैंने मज़दूर का एक अहम रोल लिखा था जो उसको बहुत पसन्द था। जब उसको मालूम हुआ कि माली मुश्किलात के बायस यह 'बाग़ी फ़िल्म' नहीं बनेगा तो उसने सेठ नानू भाई डेसाई से कहा कि आप यह कहानी मुझे दे दीजिए। मैं अपना सब कुछ बेचकर इसको फिल्माने पर लगा दूँगा। मगर ऐसी नौबत न आयी। नानू भाई को कहानी पसन्द थी चुनांचे किसी-न-किसी तरह सरमाये का बन्दोबस्त हो गया। फ़िल्म के डायरेक्टर

दादा गुँजाल थे—गुजराती-फ़िल्म मुकम्मल हो कर रिलीज़ हो गया। लोगों ने उसकी तारीफ़ की, पसन्द किया, मगर मैं मुतमईन न था। लेकिन उस का मेरे मौज़ूँ से कोई इतना ज़्यादा ताल्लुक नहीं। मुझे सिर्फ़ यह कहना था कि उस दौरान में नज़ीर को अपनी ज़ाती फ़िल्म कम्पनी क़ायम करने की ख़्वाहिश पैदा हो गयी। उसी ज़माने में यासमीन उससे रुख़्सत होने की तैयारियाँ कर रही थी। नज़ीर अज़्म का मालिक है। उसने बहुत जल्द अपना ज़ाती फ़िल्म बनाने का इरादा कर लिया। चुनांचे जहाँ तक मेरा हाफ़्ज़ा काम देता है उसका पहला फ़िल्म 'सन्देशा' था।

इसके बाद उसने अपना दूसरा फ़िल्म बनाया जिसका नाम ग़ालबन "सोसाइटी" था। इसमें उसने सितारा को भी कास्ट में शामिल किया और जो नतीजा हुआ ज़ाहिर है कि वह दोनों एक-दूसरे में मुदग़म हो गये और बहुत देर तक रहे। लेकिन इस दौरान में जहाँ तक मैं जानता हूँ सितारा अपने पुराने दोस्तों के यहाँ भी आती जाती रही। पी.एन. अरोड़ा के पास वह अक्सर जाती थी।

मैं आपको एक दिलचस्प लतीफ़ा सुनाऊँ, मुझे बम्बई छोड़ कर देहली जाना पड़ा। वहाँ मैंने आल इण्डिया रेडियो की मुलाज़मत इख़्तियार की। क़रीब-क़रीब एक साल तक मैं बम्बई की फ़िल्मी दुनिया के हालात-ओ-कवायफ़ से ग़ाफ़िल रहा। एक दिन अचानक मैंने नयी दिल्ली में अरोड़ा को देखा। हाथ में मोटी छड़ी। कमर दोहरी हो रही थी। यूँ भी बेचारा मुनहनी क़िस्म का इंसान है मगर उस वक़्त बहुत ख़स्ता हालत में था। बड़ी मुश्किल से क़दम उठा रहा था जैसे उसमें जान ही नहीं। मैं ताँगे में था और वह पैदल ग़ालबन चहल-क़दमी के लिए निकला था। मैंने ताँगा रोका और उससे पूछा कि यह क़िस्सा क्या है। उसका हुलिया क्यों इतना बिगड़ा हुआ है। उसने हाँफते हुए मगर ज़रा फीकी-सी मुस्कराहट के साथ, 'सितारा...मंटो सितारा' मैं सब समझ गया। मेरा ख़याल है आपको भी समझ जाना चाहिए। अब एक और लतीफ़ा सुनिए, अलनासिर जो अब बहुत मोटा और भद्दा हो गया है। जब वह शुरू-शुरू में फिल्मसिटी आया था तो बहुत ख़ूबसूरत था, बड़ा जर्म-ओ-नाज़ुक, सुर्ख़-ओ-सफ़ेद। देहरादून की पहाड़ी फ़ज़ा ने उसको निख़ार दिया था। मैं तो यह कहूँगा कि वह निसाइयत की हद तक ख़ूबसूरत था। उसमे वे तमाम अदाएँ थी जो एक ख़ूबसूरत लड़की में हो सकती हैं। मैं जब देहली में डेढ़ बरस गुज़ारने के बाद सैयद शौकत हुसैन रिज़वी के बुलाने पर बम्बई पहुँचा तो उससे मेरी मुलाक़ात मिनर्वा मोदी टोन में हुई। वह गेट के बाहर खड़ा था। हैरत ज़दह हो गया। गालों के गुलाबी रंग नदारद। जिस्म पर पतलून ढीली-ढाली। ऐसा मालूम होता था कि वह सिकुड़ गया है, निचुड़ गया है। मैंने उससे बड़े तशवीश भरे लहजे में पूछा, "मेरी जान, यह तुमने अपनी क्या हालत बना ली है" उसने अपना मुँह मेरे कान के पास ला करसरगोशी में कहा, "सितारा...मेरी जान ...सितारा।"

जहाँ देखो सितारा...मैंने सोचा कि सितारा सिर्फ़ ज़र्दियाँ पैदा करने के लिए पैदा हुई है। उधर पी.एन. अरोड़ा इग्लैंड का तालीमयाफ़्ता सदा बन्द, इधर देहरादून स्कूल का पढ़ा हुआ नौख़ेज लड़का।

अलग ले जा जब मैंने उससे पूरी तफ़सील पूछी तो उसने मुझे बताया कि वह सितारा के

चक्कर में पड़ गया था जिसका नतीज़ा यह हुआ कि वह बीमार हो गया। जब उस को इस बात का एहसास हुआ कि अगर वह ज़्यादा देर तक इस चक्कर में रहा तो वह ख़त्म हो जायेगा तो वह एक रोज़ टिकट कटा कर देहरादून चला गया, जहाँ उसने तीन महीने एक सेनेटोरियम में गुज़ारे और अपनी खोई हुई सेहत किसी क़दर हासिल की, उसने मुझसे यह भी कहा कि वह इस दौरान में मुझे हिन्दी ज़बान में बड़े लम्बे-लम्बे ख़त लिखती रही, लेकिन मैं यह ख़त पढ़ नहीं सकता था अलबत्ता इनकी आमद से काँप-काँप ज़रूर जाता था। उसने फिर मेरे कान में कहा...

"मंटो साहब, बड़ी अजीब-ओ-ग़रीब औरत है।"

सितारा अस्ल में है ही अजीब-ओ-ग़रीब औरत। ऐसी औरतें लाख में दो-तीन होती हैं। मैं जानता हूँ कि वह कई मरतबा ख़तरनाक़ तौर पर बीमार हुई। उसको ऐसे ऐसे आज़े लाहक़ हुए कि आम औरत कभी जाबर न हो सकती, मगर वह ऐसी सख़्त जान है कि हर बार मौत को ग़च्चा देती रही। इतनी बीमारियों के बाद ख़याल था कि उसके नाचने की कुव्वतें स्लिब हो जायेंगी मगर वह अब भी अपने अहद-ए-जवानी की तरह नाचती है। हर रोज़ घण्टों रियाज़ करती है। मालिशए से तेल की मालिश कराती है। और वह सब कुछ करती है जो पहले करती आयी है। उसके घर में दो नौकर होते हैं एक मर्द एक औरत। मर्द आम तौर पर उसका मालिशया होता है, जो औरत है उसके मुताल्लिक़ मैं सिर्फ़ इतना ही कह सकता हूँ कि वह पुरानी कहानियों की कुटनी मालूम होती है जो आसमान में घिगली लगाया करती थीं।

वह मलमल की बारीक़ साड़ी पहनती है इतनी बारीक़ कि उसका सारा ढीला-ढाला जिस्म उसमें से छन-छन कर बाहर आता रहता है और देखने वालों के लिए कराहत का मुवाज्जिब होता है, यह औरत मैंने जब भी देखी बहुत कम गो, मगर बड़ी तेज़ नज़र देखी। उसकी उम्र कम अज़ कम पचपन बरस के क़रीब होगी मगर वह जवानों के मानिन्द चाक-ओ-चौबन्द थी। उसकी आँखें ओक़ाब की तरह देखती थीं।

जब सितारा अकेली थी...यानी वह किसी एक की हो के नहीं रहती थी तो उसका मकान दादर के "ख़ुदा दाद सरकल" में था और जो सिफ़तें या क़बाहतें सितारा में हैं वो भी ख़ुदा दाद है। नज़ीर जो अब सूरन लता से मुंसलिक है, बड़ी खूबियों का मालिक है। उसने बहुत देर तक सितारा को बर्दाश्त किया मगर जैसा कि मैं इससे पेश्तर अर्ज़ कर चुका हूँ वह एक मर्द की औरत नहीं है। चुनांचे जब नज़ीर तंग आ गया और उसको हतमी तौर पर मालूम हो गया कि वह उससे निबाह नहीं कर सकता तो उसने एक रोज़ उससे हाथ जोड़ कर कहा, "सितारा मुझे बख़्श दो, मुझसे जो ग़लती हो गयी मैं उसके लिए पशेमान हूँ और तुमसे माफ़ी का ख़्वास्तगार।"

'नज़ीर' 'सितारा' को मारा-पीटा भी करता था। वह उससे नाखुश नहीं थी। ऐसी औरतें ज़द-ओ-कूब से एक ख़ास किस्म की जिन्सी लज़्ज़त महसूस करती हैं मगर उन से मुंसलिका मर्द कब तक हाथा-पायी करता रहे। वह ग़रीब भी एक अर्से के बाद आजिज़ आ जाता है। अब इसी सिलसिले की एक और कड़ी के मुताल्लिक़ भी सुनिए। जिस ज़माने में 'सितारा'

'नज़ीर' के यहाँ थी। उसी ज़माने में नज़ीर का भांजा के. आसिफ़ भी वहीं था। के. आसिफ़ बड़ा तनो मन्द नौजवान था, बड़ा हट्टा-कट्टा, जवानी से भरपूर जिसको औरत ज़ात से शायद कभी साबक़ा ही नहीं पड़ा था, अपने मामू के हाँ रहता था और उससे फ़िल्मी सनअत के मुताल्लिक़ वाक़फ़ियत हासिल कर रहा था। दिल में सैंकड़ों बलवले थे, बड़े अरमान थे फिर फ़िल्मी दुनिया में आ कर उसने औरतों (और वह भी एक्ट्रेसों) को क़रीब से देखा था। इसके अलावा उसने अपने मामू नज़ीर और सितारा के बाहमी तालुक़ात भी अपनी आँखों से देखे थे। यह वह ज़माना था जबकि 'आसिफ़' की जवानी फूटी पड़ती थी। यह वह दौर था जब मर्द अपनी जवानी के जोश में पत्थरों की दीवार से भी भिड़ जाना चाहता है और सितारा यक़ीनन एक पथरीली दीवार थी जो किसी से टकराना चाहती थी।

नज़ीर उस ज़माने में रंजीत फ़िल्म स्टूडियो के ऐन सामने एक अहाते के अन्दर रहता था। बड़ी ग़लीज़ सी जगह थी। नज़ीर ने एक पूरा फ़्लैट ले रखा था। उसी में उसकी क़ायम की हुई "हिन्द पिक्चर्ज़ का दफ़्तर भी था। दो-तीन कमरे थे। उनमें तख़लिया क्या हो सकता है। चुनांचे पुरजोश नौजवान 'आसिफ़' को हर वह पहलू देखने का मौक़ा मिला जो मर्द-ओ-ज़न के बाहमी तालुक़ात से वाबस्ता होता है।"

नौजवान आसिफ़ के लिए यह एक नया तजर्बा था। बड़ा हैरत अंगेज़, उसने अपने शादी शुदा दोस्तों से अज़दवाजी ज़िन्दगी के असरार कई बार सुने थे मगर उसे कभी ताज्जुब नहीं हुआ था। उसको मालूम था कि एक बिस्तर होता है जिसपर इंसानी फ़ितरत अपना अज़ली-ओ-अबदी खेल खेलती है। मगर आसिफ़ की आँखों ने जो कुछ एक बार महज़ इत्तफ़ाक़ से देखा वह बिलकुल मुख़्तलिफ़ था। बड़ा ख़ौफ़नाक जिसने उसकी हड्डी-हड्डी झँझोड़ दी। उसने कई बार कुत्तों की लड़ाई देखी थी जो एक-दूसरे से बड़े वहशतनाक तरीक़े पर गुच जाते थे। एक-दूसरे का झँझोड़ते, भँभोड़ते, काटते और नोचते थे...उसका तन-बदन लरज़ गया, उसने सोचा यह मुहब्बत-बहब्बत सब बकवास है। अस्ल में इंसान दरिन्दा है। और उसकी मुहब्बत एक बड़ी ख़ौफ़नाक क़िस्म की कुश्ती, मगर उसको अखाड़े में उतरने और ऐसी कुश्ती लड़ने का शौक़ ज़रूर था। उसके बाज़ुओं में कुव्वत थी, उसके बदन में हरारत थी, उसके तमाम पुट्ठे फ़ौलादी थे। उसकी ख़्वाहिश थी कि सिर्फ़ एक बार उसे मौका दिया जाय तो वह हरीफ़ को चारों खाने चित गिरा दे।

उस ज़माने में डायरेक्टर नय्यर (पाकिस्तान का ज़हीन मगर बदक़िस्मत डायरेक्टर) भी नज़ीर के साथ था। आसिफ़ और वह दोनों उम उम्र थे। दोनों कँवारे और ख्वाबों की दुनिया में रहने वाले, आपस में मिलते तो वह औरतों की बातें करते उन औरतों की जो मुस्तक़बिल में उनकी होने वाली थीं पर जब सितारा का ज़िक्र आता तो दोनों काँप उठते और एक ऐसी दुनिया में चले जाते जहाँ जिन, देव, चुड़ैलें रहती हैं।

उनको क्या मालूम कि "निमफोमेनिक" औरत क्या होती है। उनको क्या मालूम कि सितारा के मुक़ाबले में ऐसी औरतों भी हैं जिन्हें अगर बर्फ़ की सिल कहा जाय तो बज़ा है। लेकिन उनको इतना मालूम था कि 'सितारा' 'नज़ीर' के साथ वफ़ादार नहीं। वह हरजाई है, यूँ तो 'नज़ीर' की "होल टाइम" दाश्ता के तौर पर रहती है मगर पी.एन. अरोड़ा के पास भी

जाती है और कभी-कभी अपने पति डेसाई के पास भी जो बेचारा बड़े हसरत के दिन गुज़ार रहा था...और फिर और भी थे जिनमें अलनासिर भी शामिल था।

दोनों चकराए-चकराए रहते थे। उनकी समझ में कुछ नहीं आता था। नज़ीर के बिस्तर की हर शिकन का पस मंज़र उनको मालूम था। नज़ीर के खुरदुरे और गहरे साँवले रंग तो चेहरे की गैण्डे ऐसी सख़्त खाल पर जो आये दिन दाग धब्बे पड़ते थे उसका जवाज़ भी उनको मालूम था, लेकिन इस क़दर दोनों को यक़ीन था कि यह सिलसिला ज़्यादा देर तक नहीं चलेगा मगर वह चलता रहा अपने मामूल के मुताबिक़।

सुबह-सबेरे सितारा उठती और दूसरे कमरे में रियाज़ शुरू कर देती। यह भी हैरतनाक चीज़ थी कि सुबह उठते ही दो घण्टे लगातार वहशियों की मानिन्द नाचती रहे। ऐसे ऐसे तोड़े ले कि ज़मीन घूम जाये। तबलची के हाथ शल हो जायें, मगर उसे कुछ न हो। रियाज़त के बाद वह अपने एक मख़सूस मालिशए से मालिश कराती थी। इसके बाद नहा-धोकर वह नज़ीर के कमरे में जाती जो कि सो रहा होता। उसको जगाती और अपने हाथ से दूध या ख़ुदा मालूम किस चीज़ का एक प्याला उसे ज़बरदस्ती पिलाती। और एक दूसरा नाच शुरू हो जाता। ये सब कुछ 'आसिफ़' और नय्यर' की आँखों के सामने हो रहा था। उनकी उम्र तजस्सुस की उम्र थी। जब आदमी ख़ाली कमरों में भी ख़्वामख़्वाह खिड़की की दराज़ों में झाँक कर देखता है। रोशनदानों से भरे कमरों का जायज़ा लेता है। ज़रा सी आवाज़ आने पर उसके कान खड़े हो जाते हैं और वह उनमें माइने भरने की कोशिश करता है। नय्यर आसिफ़ के मुक़ाबले में जिस्मानी लिहाज़ से बहुत कमज़ोर था। उसकी जिन्सी ख़्वाहिशें भी इसी लिहाज़ से मुअतदिल थीं मगर आसिफ़ के मज़बूत और तनो-मन्द जिस्म की रग-रग में बिजली भरी हुई थी जो किसी पर गिरना चाहती थी। इसलिए आसिफ़ चाहता था कि अँधेरी रात हो, आसमान पर काले बादलों का हुजूम हो, कान बहरे कर देने वाली बिजली की कड़क और तूफ़ान बाद-ओ-बारा में वह किसी का हाथ मज़बूती से पकड़े और उसे खींचता कहीं दूर ले जाये जहाँ पत्थरों का बिस्तर हो।

नज़ीर का अज़ीज़ होने के बायस सितारा घण्टों आसिफ़ के पास बैठी रहती और इधर-उधर की बातें करती रहती थी, ज्यों-ज्यों वक़्त गुज़रता गया आसिफ़ का हिजाब कम होता गया जो वह लाहौर से अपने साथ लाया था। मगर उसको इतनी जुर्रत नहीं थी कि वह सितारा को हाथ लगाता। क्योंकि वह अपने मामू की सख़्तगीर तबीयत से वाक़िफ़ था और उससे डरता था लेकिन इस दौरान में इतना जान गया था कि सितारा उसकी तरफ़ मायल है। वह जब भी चाहे उसकी कलाई अपने मज़बूत हाथ में पकड़ कर उसे जहाँ चाहे ले जा सकता है...मगर वह घुप अँधेरी रात, वह तूफ़ान-ए-बाद-ओ-बारा और वह पत्थरों का बिस्तर!

आसिफ़ झुँझला रहा था कि कुदरत इतनी तावीक़ क्यों कर रही है। जो होना है आज ही क्यों नहीं हो जाता। गाड़ियाँ जिन्हें एक-दूसरे से टकराना है, आज ही क्यों नहीं टकरा जातीं, मगर यह कैसे होता जब काँटा बदलने वाला काँटा न बदलता।

वह जो गाड़ियों की तरह एक प्लेटफार्म पर रुकते थे मगर उनमें फ़ासला होता था।

बहुत मामूली सा फ़ासला। लेकिन जिस तरह एक गाड़ी दूसरी गाड़ी से हम-कनार नहीं हो सकती इसीलिए कि वे अपनी-अपनी पटरियों के साथ जकड़ी होती हैं। इसीलिए वो भी एक-दूसरे से हम-कनार नहीं हो सकते थे।

जिस तरह इधर के मुसाफ़िर उधर के मुसाफ़िरों से खिड़कियों में से सिर बाहर निकाल-निकाल कर बातें करते हैं उसी तरह वो भी करते थे, मगर फ़ौरन एक गाड़ी उधर रवाना हो जाती और दूसरी इधर। आसिफ़ को बड़ी झुँझलाहट होती थी। मगर वह घुप अँधेरी रात और तूफान बाद-ओ-बारा का मुन्तज़िर था।

आख़िर वह घुप अँधेरी रात, तूफान बाद-ओ-बारा, रअद-ओ-बर्क़ की जुमला हौलनाकियों के साथ आ ही गयी।

बिलाखिर सितारा के करतूत देख कर नज़ीर भौंचका हो के रह गया।

नज़ीर के सिर से अब पानी गुज़र चुका था। काफी लअन-तअन के बाद उसने सितारा से कहा कि अब तुम यहाँ नहीं रह सकतीं अपना बिस्तर फ़ौरन गोल करो।

सितारा कुछ भी हो आख़िर औरत ज़ात है। नज़ीर की सरज़निश के बाद उसमें इतनी ताक़त नहीं थी कि वह अकेली अपना बिस्तरा गोल कर सकती। नज़ीर से वह कैसे मदद माँगती। वह गुस्से में बिफरा, मुँह में झाग निकालता बाहर निकल कर अपने दफ़्तर में जा बैठा। आसिफ़ ने उसके ये तेवर देखे तो उसको यक़ीन हो गया कि वह अँधेरी रात आ गयी।

थोड़ी देर वह खामोश बैठा रहा, उसके बाद उठा और आहिस्ता-आहिस्ता दूसरे कमरे में पहुँच गया, जहाँ सितारा पलँग पर बैठी अपनी चोटें सहला रही थी।

चन्द बातों ही से उसको मालूम हो गया कि मामला ख़त्म है। दिल-ही-दिल में वह बहुत खुश हुआ। चुनांचे उसने सितारा को ढाँढस दी, कुछ इस तौर पर कि एक नया मामला शुरू हो गया।

आसिफ़ ने उसका बिस्तर-बोरिया बाँधा और उस के साथ उसके घर वाकः दादर (ख़ुदा दाद सरकल) छोड़ने गया।

यहाँ सितारा ने आसिफ़ का बहुत-बहुत शुक्रिया अदा किया।

आसिफ़ ने जुर्रत से काम ले कर सितारा का हाथ पकड़ लिया और कहा, “इसकी क्या ज़रूरत थी सितारा...”

सितारा ने अपना हाथ आसिफ़ की गिरफ़्त से छुड़ाने की कोशिश न की, मगर आसिफ मुतमईन न था। थोड़ी देर राज़-ओ-नियाज़ की बातें हुईं, सितारा ने आसिफ़ को अपने उस सहर का नमूना भी चखाया, जिससे वह उस वक़्त तक सैकड़ों मर्द, दुबले-पतले, हट्टे-कट्टे, ज़िद्दी और वहशी अपनी ख़्वाहिशात का गुलाम बना चुकी थी।

अगर दिन होता तो आसिफ़ को यक़ीनन तारे नज़र आ जाते, मगर रात को उसे ख़ुदा दाद सरकल के उस फ़्लैट में दिन तुलुअ होता नज़र आया...उसकी मसर्रतों का दिन। मगर वह फिर भी मुतमईन नहीं था। उसने सितारा से कहा कि देखो, तुम्हारा मेरा सम्बन्ध बहुत मज़बूत होना चाहिए। हरजाईपन छोड़ो। बस एक की हो जाओ।

सितारा ने उसे यक़ीन दिलाया कि वह आसिफ़ के सिवा किसी की तरफ़ आँख उठाकर

भी न देखेगी। आसिफ़ मुतमईन हो गया, मगर इस ख़ौफ़ से कि नज़ीर उससे इतनी देर लगाने की वजह न पूछ बैठे। आशिक-ए-सादिक़ की तरह उसका हाथ चूमकर चला गया और वादा कर गया कि वह दूसरे रोज़ जरूर आयेगा।

वह गया तो सितारा उठी, शृंगार मेज़ के पास जा कर उसने अपने बाल दुरुस्त किये। साड़ी तब्दील की और किसी की तरफ़ आँख उठाए बग़ैर नीचे उतरी, टैक्सी ले कर पी.एन. अरोड़ा के पास चली गयी।

जुमला मुअतरज़ा है, लेकिन हुआ करे। कहना यह है कि सितारा को मुझसे सख़्त नफ़रत थी। मैं मुसव्विर का एडीटर था और बेलाग लिखता था। बाल की खाल और नित्य नयी कॉलमों में कई बार मैंने उसकी दुर्गत बनाई थी, लेकिन बड़े सलीक़े से। उसमें कोई सूफ़ियाना पन नहीं था। फिर भी वह नाराज़ थी और मुझे उस नाराज़ी की सच पूछिए तो कोई परवाह भी नहीं थी। इसलिए कि मुझे उससे कोई ग़रज़ नहीं थी और यूँ भी फ़िल्मी हस्तियों से दूर-दूर ही रहता था।

मैंने “नित्य नयी” या बाल की खाल के कॉलमों में जब नज़ीर और उसकी लड़ाई का ज़िक्र ज़रा नमक-मिर्च लगा के किया तो वह बहुत सीख-पा हुई और उसने मुझे ख़ूब-ख़ूब गालियाँ दीं।

इसके बाद जब मुझे अपने जासूसों के ज़रिये से आसिफ़ और उसके ख़ुफ़िया माशुके का पता चला और मैंने चुभते हुए इशारों और कनायों में इसका ज़िक्र अपने कॉलमों में किया तो वह भन्ना गयी और उसने आसिफ़ से कहा तुम उस शख़्स को पीटते क्यों नहीं, ख़ुद नहीं पीटते तो किसी से पिटवाओ या किसी और अख़बार वाले से कहो कि वह उसे अपने अख़बार में ढेरों के ढेर गालियाँ दे।

आसिफ़ बड़े ज़र्फ का आदमी है। उसमें बुर्दबारी है। तहम्मुल है। मज़ाक़ समझने की अहलियत रखता है, हालाँकि अनपढ़ है। उसने सितारा की ये बातें इस कान सुनी उस कान निकाल दीं।

मामला अब ज़्यादा नज़ाकत इख़्तियार कर गया था। यह तो आपको मालूम हो चुका है कि सितारा किस क़िस्म की औरत है। अगर उससे किसी मर्द का वास्ता पड़ जाये तो उसकी रिहाई मुश्किल हो जाती है। फ़क़त एक अलनासिर ही था जो चन्द माह उसके साथ गुज़ार कर देहरादून भाग गया। वरना एक रोज़ उसकी इन्दरियाँ बिलकुल जवाब दे देतीं और उसकी क़ब्र बम्बई के क़ब्रस्तान में बनी होती जिसके कुतबे पर कुछ इस क़िस्म का शेर मरकूम होता...

> लहद पे मेरी वह पर्दा पोश आते हैं
> चराग़-ए-गोर ग़रीबाँ, सबा, बुझा देना

हाँ तो मामला बहुत नज़ाकत इख़्तियार कर गया था। इसलिए कि नज़ीर के दिल में शकूक पैदा हो रहे थे। वह सोचता था, यह मेरा भाँजा, इतनी-इतनी देर कहाँ ग़ायब रहता है जब वह उससे पूछता तो वह कोई न कोई बहाना पेश कर देता।

मगर ये बहाने कब तक चलते। उनका स्टॉक एक रोज़ ख़त्म होना ही था।

नज़ीर के दिल में अब सितारा के लिए कोई जगह नहीं थी। वह ऐसा आदमी नहीं कि अपना फ़ैसला तब्दील कर दे। उसको सितारा की नहीं, आसिफ़ की फ़िक्र थी। अपने भाँजे की, जिसको वह अपना अज़ीज़ समझता था और जिसको उसने सिर्फ़ इस ग़रज़ से अपने पास रखा था कि वह कुछ बन जाये।

अलबत्ता उसको फ़िक्र थी कि वह कहीं उस औरत के हत्थे न चढ़ जाये। वह उस औरत के साथ कई बरस गुज़ार चुका था। उसकी रग-रग और नख़-नख़ से वाक़िफ़ था। उसको मालूम था कि आसिफ़ जैसे नौजवान उसका मन माता खाजा हैं और उनको अपने दाम में फँसाना उस ऐसी तजुर्बाकार औरत के लिए कोई मुश्किल काम न था। लुत्फ़ की बात तो यह है कि वह ख़ुद ब ख़ुद उसके दाम के नीचे आ जाते थे। एक बार फँस जाते तो फिर रिहाई मुश्किल हो जाती थी।

सितारा से किसी मर्द का साबका पड़ जाये और इत्तफ़ाक़ से वह सितारा को पसन्द आ जाये तो फिर दिन और रात का बेश्तर हिस्सा उसी के साथ काटना पड़ता है। नज़ीर को आसिफ़ की पे दर पे ग़ैर हाज़िरियों ही से पता चल गया था। मगर आसिफ कहता कि मामूँ जान, यह आप क्या कह रहे हैं। मैं उसके मुताल्लिक़ तो सोच भी नहीं सकता, तो वह शश-ओ-पंज में पड़ जाता। लेकिन दिल में उसे पूरा यक़ीन था कि यह लौंडा फँस चुका है और झूठ बोल रहा है।

आसिफ़ वाक़ई झूठ बोल रहा था। मामला अगर किसी और औरत का होता तो वह यक़ीनन कभी झूठ न बोलता, मगर सितारा उसके मामू की बाश्ता थी। उसके साथ वह ऐसे तालुक़ात क़ायम नहीं कर सकता था। वह तालुक़ात जो क़ायम हो चुके थे।

पीछे हटना और फ़रार अब बहुत मुश्किल था। आसिफ़ उस "जन-ए-तिस्मा-पा" की गिरफ़्त में था। भाग निकलने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। मगर उधर नज़ीर की आँखों में बराबर ख़ून उतर रहा था। उसको बस एक मौक़ा चाहिए था। ऐसा मौक़ा कि वह सब कुछ ख़ुद अपनी आँखों से देखे।

एक रोज नज़ीर ने वह सब कुछ देख भी लिया जो वह ख़ुद अपनी आँखों से देखना चाहता था। मेरा हाफ़्ज़ा साथ नहीं देता। मुझे सारे वाक़यात अच्छी तरह मालूम थे। मगर अब इतना अर्सा गुज़र गया है कि बहुत सी बातें जेहन से उतर गयी हैं। वह ख़ून जो नज़ीर की आँखों में एक अर्से से उतर रहा था। वह उस वक़्त पी गया और उन दोनों पर टूट पड़ा।

आसिफ़ ने अपने मामू को क़समें खा-खा कर यक़ीन दिलाने की कोशिश की कि वे दोनों बेगुनाह हैं। उनके दरमियान ऐसा कोई रिश्ता, ऐसा कोई ताल्लुक़ नहीं, जिसके लिए उन्हें मौरिद-ए-अताब बनाया जाये। लेकिन नज़ीर उस वक़्त कुछ भी सुनने के लिए तैयार नहीं था। ऐसा मालूम होता था कि वह मार-मार के उन दोनों ही हड्डी-पसलियाँ तोड़ देना चाहता है ताकि सारा क़िस्सा ही ख़त्म हो, मगर मजीद (मशहूर ऐक्टर जो जब पाकिस्तान में है) ने बड़ी होशियारी से बीच-बचाव कर दिया।

नज़ीर मान गया। वह बहुत कम किसी की माना करता है, मगर उन दिनों मजीद अंग्रेज़ी मुहावरे के मुताबिक़ उसकी "अच्छी किताबों में था।"

मजीद को आसिफ़ और सितारा के माशुके का इल्म था। सुना है कि उसने आसिफ़ को कई बार मुतनब्बा किया था कि वह इस ख़तरनाक खेल से बाज़ आ जाये, मगर जवानी के वे दीवाने दिन जिनमें से आसिफ़ की ज़िन्दगी गुज़र रही थी, न माने और नतीजा उसका यह हुआ कि वह राज जिनको वह अपनी दानिस्त के मुताबिक बड़े दबीज़ पर्दों के अन्दर छिपाये बैठे थे, फ़ाश हो गया।

नज़ीर जैसा कि मैं इससे पहले अर्ज़ कर चुका हूँ बहुत सख़्तगीर आदमी है। मगर ऐसे बहुत कम आदमी हैं जिनको मालूम है कि वह नर्म दिल भी है। जो काम वह ख़ुद करता है उसकी अच्छाई-बुराई का शऊर रखता है। जो औसत दर्जे का आदमी नहीं रखता। वह सितारा से एक अर्से तक जिस्मानी तौर पर वाबस्ता रहा, लेकिन वह नहीं चाहता था कि यह वाबस्तगी आसिफ़ की सितारा से भी हो।

आसिफ़ उसका भाँजा था। कहा जा सकता है कि वह उसी रिश्ते की बिना पर आसिफ़ और सितारा का मिलाप पसन्द नहीं करता था। मगर मैं जो नज़ीर के किरदार के तमाम टेढ़े-तिरछे ज़ावियों से वाक़िफ़ हूँ, से कह सकता हूँ कि अगर आसिफ़ के बजाय कोई और आदमी होता तो वह उससे भी यही कहता कि देखो, उस औरत से बचो। एक सिर्फ़ मैं ही था जिसे अपनी तवानाई और कुव्वत पर नाज़ था। लेकिन मैं भी हार गया।

नज़ीर खुलूस का पुतला है। एक ऐसे खुलूस का जो हर वक़्त बड़ा दुरश्त और खुरदुरा लिबास पहने रहता है।

नज़ीर ने मजीद के कहने पर सितारा और आसिफ़ दोनों को छोड़ दिया। इसलिए भी कि आसिफ़ ने अपने मामूँ को यक़ीन दिलाया था कि उन दोनों के तालुक़ात बिलकुल पाक और साफ़ है।

नज़ीर चला गया। मगर वह मुतमईन नहीं था। बज़ाहिर वह एक अक्खड़ आदमी मालूम होता है। शय लतीफ़ से कोरा मगर वह दूसरों के दिल की गहराइयों में एक माहिर गोता-ज़न की तरह उतर सकता है और फिर वह सितारा की एक-एक रग से वाक़िफ़ था और जिस उम्र से आसिफ़ गुज़र रहा था उसमें तो वह छलाँगें लगाता गुज़र चुका था। उसने ऐसी कई मंज़िलें देखी थीं जो आसिफ़ शायद सारी उम्र में भी न देखे सके...वह मुतमईन नहीं था।

इस हादसे के बाद आसिफ़ और सितारा के दरमियान कुछ देर बातें हुईं। वादे-वईद हुए। क़समें खायी गयीं कि वे कभी एक-दूसरे से जुदा न होंगे। वग़ैरा-वग़ैरा। इसके बाद आसिफ़ ने सच्चे आशिकों के अन्दाज़ में सितारा से रुख़्सत ली और चला गया।

सितारा ने अपना मेकअप दुरुस्त किया। नये कपड़े पहने और टैक्सी मँगवा कर पी.एन. अरोड़ा के पास चली गयी, जिसकी सेहत देहली के हकीमों के एलाज से अब किसी क़दर बहाल हो चुकी थी और उसके पिचके हुए गालों में थोड़ा-सा गोश्त आ गया था।

अलनासिर भी था। डायरेक्टर महबूब भी थे और ख़ुदा मालूम और कितने थे। आसिफ़ गो एक बहुत ही कड़े मरहले से गुज़र चुका था। मगर उसने सितारा के यहाँ अपनी आमद-ओ-रफ़्त यक्सर मुन्क़तअ न की और वह कर भी कैसे सकता था। जबकि पुरानी जादूगरनियों की तरह उस जादूगरनी ने आसिफ़ को एक मक्खी बनाकर अपनी दीवार के

साथ चिपका रखा था। अब सिर्फ़ निजात का एक ही रास्ता था कि पुरानी कहानियों का कोई शहजादा सुलेमानी ताबीज़ के ज़रिये से उस जादूगरनी का मुक़ाबला करता और अंजामकार आसिफ उसके चँगुल से निकलता।

मैं जानता हूँ और अच्छी तरह जानता हूँ कि ताक़तवर से ताक़तवर सुलेमानी ताबीज़ भी सितारा पर असर अन्दाज़ नहीं हो सकता। वह एक ऐसा हिसार है जिसे 'लन्घूर' भी सर नहीं कर सकता।

यह चक्कर यूँ ही चलता रहा। नज़ीर और आसिफ़ के तालुक़ात रोज़ ब रोज़ कशीदा होते चले जा रहे थे।

हाँ मैं एक बात कहना भूल ही गया। जब 'नजीर' ने सितारा का बिस्तर गोल किया था तो रफ़ीक ग़ज़नवी, मशहूर मौसीकार ने मुफ़ाहमत की कोशिश की। उसने सितारा, अरोड़ा और नज़ीर को अपने यहाँ बुलाया। शराब के दौर चले। रफ़ीक़ ने जो गुफ़्तार का ग़ाज़ी है बड़े फ़लसफ़ियाना अन्दाज़ में कई पेग शराब के अलावा पिलाये, मगर कोई सूरत पैदा न हुई और जब कोई सूरत पैदा न हुई तो ख़ुद बख़ुद एक सूरत पैदा हो गयी। रात भर सितारा रफ़ीक़ के फ़्लैट में रही और वह उसको समझाता रहा कि अब कोई सूरत पैदा नहीं हो सकती।

अजीब बात है कि रफ़ीक़ ने फिर मुफ़ाहमत की कोशिश न की और न सितारा उसके यहाँ रात को यह सुनने के लिए गयी कि अब कोई सूरत पैदा नहीं हो सकती। शायद इसलिए कि सितारा के किसी तोड़े में रफ़ीक़ को एक-दो मात्रे कम महसूस हुए होंगे और यह भी हो सकता है कि सितारा ने यह महसूस किया हो कि रफ़ीक़ सुर से एक-आध सूत्र ऊपर या नीचे गाता है...इसके मुताल्लिक़ वसूक से कुछ नहीं कहा जा सकता।

अब हम फिर सितारा और आसिफ की तरफ़ पलटते हैं। सितारा उस पर बहुत बुरी तरह लट्टू थी कि वह नौजवान ख़ामकार था। उसकी ज़िन्दगी में सितारा शायद सब से पहली औरत थी।

कहा जाता है कि नज़ीर ने एक बार फिर छापा मारा और दोनों को ऐन मौके पर जा पकड़ा। इस दफ़ा किसने बीच बचाव किया, इसका मुझे इल्म नहीं। बहरहाल मामला रफ़अ-दफ़अ हो गया। क्योंकि आसिफ़ ने अपने मामूँ को यक़ीन दिला दिया कि उसके और सितारा के दरमियान ऐसी-वैसी कोई बात नहीं, बहरहाल आसिफ़ और सितारा के सिर से आयी बला एक बार फिर टल गयी। मगर उसका नतीजा यह हुआ कि एक दिन आसिफ ग़ायब हो गया। दूसरे दिन मालूम हुआ कि सितारा भी गायब है। इसतिफ़्सार पर मालूम हुआ कि वह किसी तीर्थ की यात्रा करने गयी है। अगर मौसम हज का होता तो यार लोग यक़ीनन उड़ा देते कि हज़रत-ए-आसिफ़ हज करने गये हैं।

मुझे मालूम नहीं वह दोनों कहाँ गये थे। मगर देहली से ख़बर मौसूल हुई कि सितारा मुशर्रफ़ बा इस्लाम हो चुकी है और उसका इस्लामी नाम अल्लाह रखी रखा गया है और यह कि आसिफ़ ने उससे बाक़ायदा निकाह पढ़वा लिया है।

उसके मामू नज़ीर पर इसका रद्द-ए-अमल हुआ उसके मुताल्लिक़ आप ख़ुद सोच सकते हैं। मगर पुर लुत्फ़ बात यह है कि हिन्दुओं के कानून के मुताबिक़ तलाक़ हो ही नहीं

सकती। औरत एक दफ़ा किसी मर्द से वाबस्ता हो जाये तो सौ हीले करने पर भी ख़ुद को अपने पति से जुदा नहीं कर सकती। यूँ वह आवारागर्दी कर सकती है। सैकड़ों मर्दों की आगोश की ज़ीनत बन सकती है मगर रहेगी अपने पति की पत्नी। और यह भी है कि हिन्दू औरत चाहे दूसरा मज़हब इख़्तियार कर ले मगर उसकी अस्ल पोज़ीशन में फ़र्क़ नहीं आ सकता। इस लिहाज़ से गो सितारा अल्लाह रखी बनकर बेगम के. आसिफ़ हो गयी थी, मगर कानून की नज़रों में वह मिसेज़ डेसाई थी। उस बीमार सूरत डेसाई की बीवी जो रोटी कमाने के लिए बहुत बुरी तरह हाथ-पाँव मार रहा था।

जब इस ख़बर की तसदीक़ हो गयी तो मैंने मुसव्विर के कॉलमों में जी भर के लिखा। क़रीब-क़रीब हर हफ़्ते इस नये ब्याहता जोड़े का ज़िक्र होता था। बड़े तन्ज़न, फ़रहय्या और फुकाहिया अन्दाज़ में।

माह-ए-असल यानी हनीमून मनाने के बाद जब यह जोड़ा बम्बई वापस आया तो नज़ीर ख़ून के घूँट पी के रह गया। एक दफ़ा मुझे रेस कोर्स जाने का इत्तफ़ाक़ हुआ, मैंने देखा कि हुजूम में से आसिफ़ शार्क स्किन के बेदाग़ सूट में मलबूस फुर्तीली सितारा की कमर में हाथ दिये चला आ रहा है। जब वह मेरे क़रीब पहुँचा तो वह पहले मुस्कराया फिर हँसने लगा और मेरी तरफ़ हाथ बढ़ाकर कहने लगा, "भई ख़ूब...बहुत ख़ूब। नमक-मिर्च और बाल की खाल के कॉलमों में तुम जो लिख रहे हो, ख़ुदा की क़सम लाजवाब है।"

सितारा तेवरी चढ़ा कर एक तरफ़ हट गयी, मगर आसिफ़ ने उस तरफ़ कोई तवज्जह न की और मुझसे बड़े बुलन्द बांग खुलूस के साथ देर तक बातें करता रहा। मैं इससे पेश्तर अर्ज़ कर चुका हूँ कि वह बड़े ज़र्फ़ का आदमी है और अनपढ़ होने के बावजूद मज़ाह और फुकाह समझने की अहलियत रखता है।

अब बम्बई में हर शख़्स को जिसे फ़िल्मी सनअत से दिलचस्पी थी मालूम हो चुका था कि कोई आसिफ़ है, जिससे सितारा ने शादी कर ली है। भिण्डी बाज़ार और मुहम्मद अली रोड के ईरानी होटलों में पंजाब और यू.पी. के मुसलमान जो मुस्लिम लीग की हिमायत में थे, चाय की प्यालियाँ सामने रखकर अपनी बेपनाह मसर्रत का इज़हार करते थे कि मियाँ भाई (मुसलमान) ने एक काफ़िर औरत को मुसलमान करके अपने अक़्द में लिया।

बाज़ कहते थे कि आसिफ़ को अब उस साली से ऐक्टिंग नहीं करानी चाहिए।

बाज़ कहते थे कोई दान्दा (हर्ज) नहीं, मगर जब बाहर निकले तो पर्दा ज़रूर किया करे।

बाज़ कहते थे हटाओ यार...से सब अण्टशण्ट है।

बहरहाल जहाँ तक मैं समझता हूँ, 'आसिफ़', 'सितारा' से कानूनी तौर पर शादी कर चुका था। मगर एक अर्से के बाद जब मैंने उससे पूछा, "क्यों धाँसू क्या वाक़ई सितारा तुम्हारी मनकूहा बीवी है" तो वह हँसा "कैसा निकाह और कैसी शादी।"

अब अल्लाह ही बेहतर जानता है कि असल मामला क्या था और क्या है।

आसिफ़ का अपना मकान कोई भी नहीं था। बस दोनों वहीं ख़ुदा दाद सरकल (दादर) में रहते थे और खुले बन्दों रहते थे। सितारा की मोटर थी। उसमें घूमते थे।

मेरा ख़याल है, देहली में आसिफ़ ने शायद लाला जगत नारायण को इस बात पर

आमादा कर लिया था कि वह उसे एक फ़िल्म बनाने का सरमाया दे। उससे शायद उसने कुछ एडवांस भी लिया होगा, जब ही तो वह तंग दस्त नहीं था।

आसिफ़ में एक बहुत बड़ी ख़ूबी है कि ख़ुद ए'तमाद है। उसके अन्दर एहसास-ए-कमतरी का शायबा तक मौजूद नहीं। वह बड़े-बड़े डायरेक्टरों और स्टोरी राइटरों के छक्के छुड़ा देता है। महज़ अपनी ख़ुदादाद क़ाबलियत की बदौलत। इस ख़ुदादाद क़ाबलियत को मैं 'हाउस सेन्स' कहा करता था। आसिफ़ के सामने भी, मगर उसने कभी बुरा न माना।

आसिफ़ जब डायरेक्टर बना तो दूसरे तंग ख़याल और कम ज़र्फ़ डायरेक्टरों के मानिन्द उसने अपना हलक़ा-ए-फ़िक्र-ओ-नज़र महदूद न रखा। उसने हर दिमाग़ को दावत दी कि वह कोई अच्छी चीज़ पेश करे, जिसे वह बख़ुशी क़ुबूल करेगा।

मैं ख़ुदा मालूम कहाँ का कहाँ चला गया हूँ मगर यहाँ मुझे एक लतीफ़े का ज़िक्र करना इसलिए दिलचस्प मालूम होता है कि मेरी ज़ात से मुताल्लिक़ है।

'आसिफ़' उन दिनों फूल बना रहा था। मैं अपने फ़्लैट वाकः क्लेयर रोड में था कि नीचे से मोटर के हॉर्न की ताबड़तोड़ आवाज़ें आयीं। मैंने बाहर बालकनी में निकल कर देखा। एक बहुत बड़ी मोटर नीचे खड़ी थी। जब मैं जंगले पर झुका तो पिछली सीट से आसिफ़ ने खिड़की में से अपना वज़नी सिर बाहर निकाला और मुस्कराया। मैंने उससे कहा, 'आओ, क्या बात है?'

उसने दरवाज़ा खोला और पिछली सीट पर बैठी 'सितारा' से कुछ कहा, उसके बाद मुझसे मुख़ातिब हुआ, "आता हूँ और बताता हूँ।"

लम्बी-चौड़ी मोटर का इंजन स्टार्ट हुआ और वह चश्म ज़दन में एडल्फ़ी चेम्बर्ज़ के अहाते से बाहर निकल गयी। आसिफ ने सीढ़ियों का रुख़ किया।

मैंने दरवाज़ा खोल दिया। एक मिनट में आसिफ़ अन्दर दाख़िल हुआ और बड़े पुर जोश अन्दाज़ में मुझसे हाथ मिला करकहने लगा, "मैं तुम्हें अपनी कहानी सुनाने आया हूँ।"

मैंने अज़ राह-ए-मज़ाक़ कहा, "तुम्हें मालूम है, मैं फ़ीस लिया करता हूँ।"

आसिफ़ ने कुछ न कहा, मुझसे हाथ मिलाया और उल्टे पाँव वापस चला गया। मैंने उसको आवाज़ें दीं। उसके पीछे दौड़ता गया, मगर उसने मेरी एक न सुनी। बस इतना कहा कि वह फ़ीस ले कर आयेगा तो कहानी सुनाएगा वरना नहीं।

मैं बहुत पशेमान हुआ कि मैंने उससे ऐसा मज़ाक़ किया...मैं समझता था कि वह मेरी इस बात को उसी रँग में लेगा, जिस रँग में वह कही गयी थी। मगर मामला इसके बरअक्स निकला और वह चला गया।

मैं ऊपर आया और अपनी बीवी से सारा क़िस्सा बयान किया तो उसने साफ़ लफ़्ज़ों में कहा कि यह मेरी ऐन हिमाक़त थी। इसलिए कि आसिफ़ मेरा बेतकल्लुफ़ दोस्त नहीं था और यह वाक़ई है कि उसके और मेरे मरासिम कुछ ज़्यादा नहीं थे। चूँकि वह और मैं तबमन साफ़ गो, दिल शिकन हद तक साफ़गो हैं। इसलिए मैंने जब उससे फ़ीस का मज़ाक़ किया था तो मेरे दिल-ओ-दिमाग़ में कोई ऐसी बात नहीं थी जिससे मुझे उसके जज़्बात मजरूह करना मतलूब थे और न मैं ऐसा बनिया हूँ कि उससे पहले ही रुपये का तक़ाज़ा करता। मुझे तो

सिर्फ़ कहानी सुननी थी और बस।

और मैं कई डायरेक्टरों से उनकी थर्ड क्लास कहानियाँ एक नहीं चार-चार मरतबा सुन चुका था। क्योंकि वे मेरी राय के तालिब होते थे। मैंने उनसे कभी अपने वक़्त की (जो कि ज़ाहिर है जायअ होता था) क़ीमत तलब नहीं की थी।

मुझे अफ़सोस था कि मैंने आसिफ को नाराज़ किया। मैं उसके मुताल्लिक़ सोच ही रहा था कि दरवाज़े पर दस्तक हुई। मैंने दरवाज़ा खोला। एक आदमी खड़ा था। उसने एक लिफ़ाफ़ा मेरे हाथ में दिया और चला गया। मैं अभी लिफ़ाफ़ा खोल ही रहा था कि नीचे से हार्न की आवाज़ आयी। मैंने बालकनी में जा कर देखा। सितारा की कार थी और वह एडल्फ़ी चेम्बर्ज़ के गेट से बाहर निकल रही थी।

लिफ़ाफ़ा खोलकर मैंने देखा कि सौ-सौ के पाँच नोट हैं। उनके साथ एक मुख़्तसर सी तहरीर थी, “फ़ीस हाज़िर है। अब मैं कल आऊँगा।”

मैं भौंचका हो के रह गया।

दूसरे रोज़ सुबह नौ बजे के क़रीब वह उसी कार में आया। सितारा साथ थी मगर वह ऊपर न आयी। आसिफ़ को दस्तक देने की ज़रूरत महसूस न हुई, इसलिए कि दरवाज़ा खुला था और मैं उसके इसतक़बाल के लिए देहलीज़ में खड़ा था।

उसने मुझे देखते ही कहा, “क्यों डॉक्टर साहब फ़ीस मिल गयी आपको?”

मैं बहुत शर्मिन्दा हुआ। जिसका इज़हार मैंने बड़े पुर-खुलूस और मौजू-ओ-मुनासिब अल्फ़ाज़ में किया और वो पाँच सौ उसे वापस करना चाहे।

आसिफ अपने मख़सूस अन्दाज़ में हँसा और सोफ़े पर अपनी नशिस्त जमाकर कहने लगा, “मंटो साहब, आप किस ख़याल में हैं। यह पैसा मेरा है न मेरे बाप का। प्रोड्यूसर का है। ग़लती मेरी थी जो मैं बग़ैर फ़ीस के चला आया। हालाँकि मेरी नीयत वल्लाह हर्गिज़ यह नहीं थी कि मुफ़्तों मुफ़्ती काम कराया जाये। आपका वक़्त यक़ीनन जायः होगा। और उसकी क़ीमत भी। ख़ुदा की क़सम आपको ज़रूर मिलनी चाहिए। लेकिन अब छोड़िए इस बकवास को और कहानी सुनिए।”

उसने मुझे कुछ और कहने की मोहलत न दी। वह बड़े सोफ़े पर था। मैं उसके सामने एक कुर्सी पर बैठ गया। आसिफ़ को मैंने कभी कहानी सुनाते या सुनते नहीं देखा था। उसने अपनी बोस्की की क़मीज़ की आस्तीनें ऊपर चढ़ाईं। पतलून के ऊपर के बटन जो पेटी का काम देते हैं खोले और सोफ़े, पर एक आसन जमाकर कहानी सुनाने के अन्दाज़ में बैठ गया। “हाँ तो कहानी सुनिए। उन्वान है ‘फूल’। क्या ख़याल है आपका उन्वान के मुताल्लिक?”

मैंने कहा, “अच्छा है।”

“शुक्रिया...अब आप सुनिए...मैं आपको मंज़र-ब-मंज़र सुनाता हूँ।”

और उसने अपनी कहानी जो ख़ुदा मालूम किसकी लिखी थी। अपने मख़सूस अन्दाज़ में सुनाना शुरू की। यह मख़सूस अन्दाज़ कुछ इस क़िस्म का है कि कहानी सुनाने के दौरान में वह मदारीपन करता है यानी हस्ब-ए-ज़रूरत वाक़आत के उतार-चढ़ाव के साथ ख़ुद भी उतरता-चढ़ता रहता है। अभी वह सोफ़े पर है। चन्द लम्हात के बाद उसकी पुश्त की दीवार

पर दूसरे लम्हे उसका सिर नीचे है और टाँगे ऊपर और वहम से नीचे फ़र्श पर। इसके फ़ौरन बाद कुर्सी पर उकड़ूँ बैठा है, मगर फ़ौरन उठ खड़ा हुआ है और यूँ मालूम होता है कि इलेक्शन में कोई आदमी वोट हासिल करने के लिए तक़रीर कर रहा है।

कहानी ख़त्म हुई...बड़ी लम्बी कहानी। शैतान की आँत की तरह।

चन्द लम्हात ख़ामोशी में गुज़रे। इसके बाद आसिफ़ ने मुझ से पूछा, "क्या ख़याल है आपका कहानी के मुताल्लिक़।"

मेरे मुँह से ये अल्फ़ाज़ ख़ुद-ब-ख़ुद निकल गये "बकवास है।"

आसिफ़ ने ज़ोर-ज़ोर से अपने होंट काटे और बौखला कर सोफ़े की पुश्त की दीवार पर बैठ गया और ग़ज़बनाक लहजे में पूछा, "क्या कहा?"

कोई और होता तो बहुत मुमकिन है लड़खड़ा जाता, मगर मैं हमेशा ऐसे मामलों में साबित क़दम रहा हूँ, चुनांचे मैंने और ज़्यादा मज़बूती से कहा, "मैंने कहा था बकवास है।"

आसिफ़ ने अपने मदारीपन से मुझे मुतास्सिर करने की बहुत कोशिश की। मुझे फ़िज़ूल की झक-झक पसन्द नहीं थी। वह बहुत ऊँचे सुरों में बोलता था। मैंने सोचा, इसका एलाज यही है कि एक दफ़ा मैं भी अपने हलक़ को छुट्टी दे दूँ। चुनांचे मैंने उससे कहा, "सुनिए आसिफ़ साहब, आप एक बहुत वज़नी पत्थर मँगवाइए, उसको मेरे सिर पर रखिए और उस पर वज़नी हथौड़े मारिए। ख़ुदा की क़सम मैं फिर भी कहूँगा कि आपकी यह कहानी बकवास है।"

ये सब कुछ मैंने बहुत ऊँचे सुरों में कहा था। आसिफ़ सोफ़े की पुश्त से दीवार पर से नीचे उतर आया। आगे बढ़कर उसने मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया और अपने होंट चूसते हुए कहा, "ख़ुदा की क़सम बिलकुल बकवास ही है। मैं तुमसे यही सुनने आया था।"

मैं समझा शायद मज़ाक़ कर रहा है। लेकिन चन्द लम्हात के बाद मुझे मालूम हो गया कि वह कतअन संजीदा था। चुनांचे हम कहानी मैं तरमीम-औ-एसलाह के मुताल्लिक़ सोचने लगे।

लतीफ़ा ख़त्म हुआ। यह मेरी ज़ात से यक़ीनन मुताल्लिक है, मगर इसके बयान से मक़सूद सिर्फ़ यह था कि आपको आसिफ़ और सितारा के किरदार का तक़ाबुल नज़र आ जाये।

एक ज़माना गुज़र गया। आसिफ़ और सितारा मियाँ-बीवी की ज़िन्दगी गुज़ार रहे थे, मगर यहाँ मुझे एक और लतीफ़ा याद आ गया।

जिस ज़माने में आसिफ़ से मेरी दोस्ती नहीं थी और उसका ताल्लुक़ भी सितारा के साथ क़ायम नहीं हुआ था। के आसिफ साहब के चेहरे पर बिला मुबालगा दस हज़ार कीलें थीं और इतने ही मुँहासे थे। जिनके मुताल्लिक़ कहा जाता है कि यह जवानी की निशानियाँ हैं। मैं सोचता था अगर जवानी की निशानियाँ इतनी बदनुमा और तकलीफ़ दें तो ख़ुदा करे किसी पर जवानी न आये (मुझ पर अल्लाह का शुक्र है कभी आयी ही नहीं)

मैं जब उसके चेहरे की तरफ़ देखता जो कि बिला मुबालगा ख़ाना-ए-ज़ंबूर दिखायी देता था, तो मुझे बड़ी कोफ़्त होती। मैं नीम हकीम भी हूँ। अपनी दानिस्त के मुताबिक़ और अपने

डॉक्टर दोस्तों में मशविरा करके मैंने कई दवाएँ ख़रीद कर उसको दीं मगर कोई फ़ायदा न हुआ। कीलें उसी तरह मौजूद थीं। मगर जब सितारा उसकी ज़िन्दगी में आयी तो चन्द महीनों के अन्दर-अन्दर उसका चेहरा बिलकुल साफ़ हो गया। सिर्फ़ निशान बाक़ी रह गये थे।

एक और लतीफ़ा सुन लीजिए...बम्बे टॉकीज़ में कमाल अमरोही और मैं दोनों इकट्ठे काम कर रहे थे। उसकी कहानी 'महल' को फ़िल्म के लिए मौज़ूँ-ओ-मुनासिब शक्ल देने के लिए सोच-विचार हो रही थी। उस दौरान में कमाल के दाहिने गाल पर एक छोटी सी फुंसी नमूदार हुई जो उसको बहुत तकलीफ़ देने लगी। उसने उस तकलीफ़ का ज़िक्र मुझसे किया। मैंने उससे कहा, "एक बड़ा सहल एलाज है और तीर बहदफ़।"

उसने मुझसे पूछा, "क्या?"

मैंने उससे कहा, "तुम सितारा का घर जानते हो ना?"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं।"

"तो ऐसा करो। उसकी सीढ़ियों को एक चक्कर लगा आओ... मगर देखो अन्दर नहीं जाना।"

कमाल ज़हीन आदमी है। मेरा मतलब समझ गया और बहुत देर तक हँसता रहा।

लतीफ़े ख़त्म हुए।

बहुत देर तक सितारा और आसिफ़ इकट्ठे अज़दुबानी ज़िन्दगी बसर करते रहे। अब दोनों ग़ालबन माहम के एक फ़्लैट में रहते थे...हाँ वही रहते थे। क्योंकि वहाँ मेरा कई मरतबा आना जाना हुआ। लेडी जमशेद जी रोड के चर्च के सामने एक गली थी। जिसके आख़री सिरे पर एक तीन मंज़िला बिल्डिंग। ग़ालबन तीसरी मंज़िल पर सितारा का फ़्लैट था।

मुझे यहाँ जाने का कई बार इत्तफ़ाक़ हुआ था। उन दिनों आसिफ़ 'फूल' बनाने के बाद ग़ालबन 'अनारकली' बनाने की तैयारी कर रहा था। उसकी कहानी कमाल अमरोही ने लिखी थी। मगर वह शायद उससे मुतमईन नहीं था। क्योंकि वह कई आदमियों को दावत दे चुका था कि वह उसमें कुछ शिद्दत पैदा करें। मैं भी उन्हीं लोगों में से एक था।

मैं आम तौर पर सुबह आठ बजे के क़रीब वहाँ पहुँचता। दरवाज़ा एक बुढ़िया खोलती, जो मलमल की बारीक़ साड़ी पहने होती। उसे देख कर मुझे सख़्त कोफ़्त होती। मुझे ऐसा मालूम होता कि दरवाज़ा आलिफ़ लैला की किसी कुटनी ने खोला है।

मैं अन्दर जाता और सोफ़े पर बैठ जाता। साथ वाले कमरे से, जो ग़ालबन ख़्वाब-गाह थी। ऐसी-ऐसी आवाज़ें आतीं कि रूह लरज़-लरज़ जाती। थोड़ी देर के बाद आसिफ़ नमूदार होता, हस्ब-ए-आदत अपने होंठ चाटते हुए। उसकी हय्यत-कज़ाई देखने की चीज़ थी। मलमल का कुर्ता जगह-जगह से फटा हुआ है। गर्दन और सीने पर नील पड़े हैं। बाल परेशान है। साँस फूली हुई है। मामूली अलैक-सलैक होती और वह फ़र्श पर ढेर हो जाता। थोड़ी देर के बाद सितारा, आसिफ़ के लिए एक प्याला भेजती, जिसमें मालूम नहीं किस चीज़ की खीर होती। आसिफ़ आहिस्ता-आहिस्ता बा दिल-ए-नख़्वास्ता प्याला ख़त्म करता, इसके बाद काम शुरू कर देते, जो ज्यादा तर गप्पों पर मुश्तमिल होता।

काफ़ी अर्सा गुज़र गया। 'सितारा' और 'आसिफ़' के तालुक़ात बड़े मुसतहकम नज़र

आते थे, मगर एकदम जाने क्या हुआ कि यह सुनने में आया कि आसिफ़ अपने अज़ीज़ों में किसी लड़की से शादी कर रहा है। तारीख़ पक्की हो गयी और वह अनक़रीब अपने दोस्तों के साथ लाहौर रवाना होने वाला है।

मैं उन दिनों बहुत मसरूफ़ था। वरना उससे मिलकर ज़रूर दरयाफ़्त करता कि यह क्या क़िस्सा है, लेकिन मुझे इसका मौक़ा न मिला। मगर एक रोज़ उससे सर-ए-राह मुलाक़ात हो गयी। मैंने सरसरी तौर पर उससे पूछा तो उसने सिर्फ़ इतना कहा, "मैंने वह क़िस्सा ख़त्म कर देने की ठानी थी। चुनांचे हो जायेगा।"

वह कार में था। मैं पैदल था और उसको उज़लत भी थी। इसलिए ज़्यादा बातें न हो सकीं। चन्द रोज़ के बाद मालूम हुआ कि आसिफ़ एक बहुत बड़ी पार्टी के साथ रवाना हो गया है। इसके बाद यह इत्तिलाअ मिली कि लाहौर में उसकी शादी बड़े ठाट से हुई ख़म-के-ख़म लुँढ़ाए गये। मुज़रे हुए और राग-रंग की कई महफ़िलें जमीं। फिर सुना कि आसिफ़ अपनी नयी नवेली दुल्हन के साथ बम्बई पहुँच चुका है और पाली हिल बान्दरा में उसने एक कोठी का निस्फ़ हिस्सा किराए पर उठा लिया है। लेकिन बाद में मालूम हुआ कि पूरी कोठी नज़ीर के पास थी। जिसने आधी अपने भाँजे को दे दी।

यह बड़ा खुशगवार इंक़िलाब था। मुझे मालूम नहीं सितारा का रद्द-ए-अमल क्या था। लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि अरोड़ा के यहाँ वह अक्सर जाया करती थी और वह भी उसके यहाँ अक्सर आया करता था।

उन दिनों आसिफ़, पालीहिल पर रहता था। नयी नवेली दुल्हन पास थी। मेरा ख़याल है कि वह उन दिनों मुग़ल-ए-आज़म की तैयारियों में मसरूफ़ था। उसकी कहानी कमाल हैदर अमरोही ने लिखी थी, मगर आसिफ़ उससे मुतमईन नहीं था। उसने कई इंशा परदाज़ों से मशविरा लिया था मगर वह फिर भी मुतमईन नहीं था।

इस ज़िम्न में आपको कई लतीफ़े सुना सकता हूँ। मगर उनसे कोई मतलब हल नहीं होगा। कहना सिर्फ़ यह है कि आसिफ़ और उसकी नयी-नवेली बीवी...सुनहरे जलवों की ब्याही। चन्द रोज़ इकट्ठे रहे, इसके बाद यह देखने में आया कि आसिफ़ साहब घर से ग़ायब हैं और रातें सितारा के साथ गुज़ारते हैं।

यह शादी ज़्यादा देर तक क़ायम न रही। नज़ीर का नौजवान लड़का भी वहीं था। मालूम नहीं क्या हुआ कि आसिफ़ ने अपनी बीवी के पास जाना छोड़ दिया। नाचाक़ी हुई। इसके बाद पता चला कि तलाक़ होने वाली है और उस दौरान में आसिफ़ बराबर सितारा के यहाँ जाता था।

इससे यह भी मालूम हुआ कि सितारा कारीगर है। उसका मुक़ाबला नयी-नवेली दुल्हन नहीं कर सकती। चुनांचे चन्द महीनों के बाद 'आसिफ़' की दुल्हन अपने घर वापस चली गयी और बाद में मालूम हुआ कि तलाक़ हो गयी है।

अब फिर 'आसिफ़' और 'सितारा' इकट्ठे थे। 'आसिफ़' की ब्याहता बीवी के मुताल्लिक़ कई अफ़साने मशहूर हैं। मगर मैं उनका ज़िक्र करना नहीं चाहता। इसलिए कि मुझे उनकी सदाक़त के मुताल्लिक़ अच्छी तरह इल्म नहीं।

मैं सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि 'आसिफ़' ने ब्याह किया। लाहौर में बड़े ठाट की मजलिसें जमीं, उसके बाद 'आसिफ़' अपनी बीवी को ले कर बम्बई आया। पालीहिल पर ठहरा और दो-तीन महीने के अन्दर-अन्दर उसने अपनी बीवी को छोड़ दिया...उसकी वजह 'सितारा' के सिवा और क्या हो सकती थी।

सितारा मरदुमशनास औरत है। उसको वो तमाम ढब आते हैं, जो मर्द को अपनी तरफ़ राग़िब कर सकते हैं। बल्कि यूँ कहिए कि उसे दूसरी औरतों के लिए बिलकुल नाकारा बना देते हैं। यही वजह है कि 'आसिफ़' ने अपनी बीवी को छोड़ दिया और 'सितारा' की आग़ोश में चला गया। इसलिए कि उसमें कशिश थी।

आसिफ़ की शादी अपने ख़ानदान में हुई थी। उस ख़ानदान के मुताल्लिक मुख़्तलिफ़ खायात मशहूर हूँ, लेकिन मैं उनका तज़करा करना नहीं चाहता।

आसिफ़ ने अपनी ब्याहता बीवी को छोड़ दिया। शायद इसलिए कि उसमें वे खुसूसियतें मौजूद नहीं थीं, जो 'सितारा' में थीं। शायद इसलिए कि 'आसिफ़' कँवारी लड़कियों का कायल नहीं था। बहरहाल जो नतीजा बरआमद हुआ वह हर शख़्स को मालूम है।

'आसिफ़' की नयी-नवेली दुल्हन चली गयी और 'आसिफ़' ने फिर से 'सितारा' के यहाँ क़याम शुरू कर दिया। इस क़याम के दौरान में अजीब-ओ-ग़रीब अफ़वाहें मुन्तशिर हुईं। मगर मैं उनके मुताल्लिक़ कुछ कहना नहीं चाहता।

मैंने यह मज़मून लिखा है। मुझे मालूम है कि 'आसिफ़' मुझसे नाराज़ नहीं होगा। इसलिए कि वह बड़े ज़र्फ़ का आदमी है। 'सितारा' यक़ीनन नाराज़ होगी...मगर वह मुझे थोड़ी देर के बाद बख़्श देगी। इसलिए कि उसका ज़र्फ़ भी छोटा नहीं है। वह बड़ी क़द-आवर औरत है। (हालाँकि उसका क़द बहुत पस्त है।)...वह मुझे मालूम नहीं कैसा आदमी समझती है, मगर मैं उसे ब-हैसियत औरत के ऐसी औरत समझता हूँ, जो सौ साल में शायद एक मरतबा पैदा होती है।

पारो देवी

“चल-चल रे नौजवान” की नाकामी का सदमा हमारे दिलो-दिमाग़ में क़रीब-क़रीब भर चुका था। ज्ञान मुकर्जी ‘फ़िल्मिस्तान’ के लिए एक प्रोपेगैण्डा कहानी लिखने में एक अर्से से मसरूफ़ थे।

कहानी लिखने-लिखाने और उसे पास कराने से पेश्तर नलिनी जयवन्त और उसके शौहर वीरेन्द्र देसाई से, जिससे वह अब तलाक ले चुकी है, कॉण्ट्रैक्ट हो चुका था। ग़ालिबन पचीस हज़ार रुपये में एक साल उसकी मियाद थी। मिस्टर शशधर मुकर्जी आदत के मुताबिक सोच-विचार में दस महीने गुज़ार चुके थे। कहानी का ढाँचा था कि तैयार होने ही में नहीं आता था। सौ मुश्किलों से ज्यों-त्यों करके एक ख़ाका वजूद में आया जिसे ज्ञान मुकर्जी अपनी जेब में डाल कर दिल्ली रवाना हो गया ताकि ज़बानी तौर पर इसमें कुछ और चीज़ें डाल कर सरकार से पास करा लें।

ख़ाका पास हो गया। जब शूटिंग की दहलीज़ पर पहुँचे तो वीरेन्द्र देसाई ने यह प्रस्ताव रखा कि उसके साथ एक बरस का और कॉण्ट्रैक्ट किया जाये, इसलिए कि पहले अनुबन्ध की मियाद ख़त्म होने वाली है। राय बाहदुर चूनीलाल, मैनेजिंग डायरेक्टर, बड़े अक्खड़ क़िस्म के आदमी थे, चुनांचे नतीजा यह हुआ कि मुक़दमेबाज़ी हुई। फैसला वीरेन्द्र देसाई और उनकी ख़ूबसूरत बीवी, नलिनी के हक़ में हुआ। इस तरह वह प्रौपेगैण्डा फ़िल्म, जिसकी कहानी का अभी सिर्फ़ अधूरा ख़ाका ही तैयार हुआ था, पच्चीस हज़ार रुपयों के बोझ तले आ गयी।

राय बहादुर बहुत उतावले थे कि फ़िल्म जल्द तैयार हो, क्योंकि बहुत वक़्त ज़ाया हो चुका था, चुनांचे जल्दी-जल्दी में वली साहब को बुला कर उनकी बीवी मुमताज़ शान्ती से कॉण्ट्रैक्ट कर लिया गया और उसको चौदह हज़ार रुपये बतौर पेशगी अदा कर दिये गये। (ब्लैक में, यानी बग़ैर रसीद)

दो दिन शूटिंग हुई। मुमताज़ शान्ती और अशोक कुमार के बीच छोटा-सा संवाद था जो बड़ी मीन-मेख के बाद फ़िल्माया गया, मगर जब उसे पर्दे पर देखा गया तो सब ने मुमताज़ शान्ती को नापसन्द किया। उस नापसन्दीदगी में इस बात का भी बड़ा दख़ल था कि मुमताज़ बुर्क़ा पहन कर आती थी और वली साहब ने साफ़ तौर पर मुकर्जी से कह दिया था कि उसके जिस्म को कोई हाथ-वाथ नहीं लगायेगा।

नतीजा यह हुआ कि मुमताज़ शान्ती को फ़िल्म से अलहदा कर दिया गया। इस बहाने से कि जो किरदार उसे इस कहानी में अदा करना है, उसके लिए वह ठीक और मुनासिब नहीं है...क्योंकि उसमें ऐसे कई मुक़ाम आयेगे जहाँ हीरोइन को अपने जिस्म के बाज़ हिस्सों की खुली नुमाइश करनी पड़ेगी...क़िस्सा मुख़्तसर यह कि ये चौदह हज़ार भी गये।

अब कहानी का अधूरा ढाँचा उन्तालीस हज़ार रुपये के नीचे दबा पड़ा था...राय बहादुर चूनी लाल, लाल-पीले हो रहे थे। 'चल-चल रे नाजवान' की नाकामी ने कम्पनी की हालत बहुत पतली कर दी थी। मारवाड़ियों से क़र्ज़ ले-ले कर सौ मुश्किलों से गुज़ारा हो रहा था। राय बहादुर की नाराज़गी और परेशानी बजा थी।

एक दिन मैं, वाचा, पायी और अशोक स्टूडियो के बाहर कुर्सियों पर बैठे, कम्पनी की इन्हीं हिमाक़तों का ज़िक्र कर रहे थे जिनकी वजह से इतना वक़्त और इतना रुपया ज़ाया हुआ, कि तभी अशोक ने यह भेद खोला कि जो चौदह हज़ार रायबहादुर ने मुमताज़ शान्ती को दिये थे, वे उन्होंने उससे क़र्ज़ लिये थे। अशोक ने यह भेद अपनी काली पिण्डली को खुजलाते हुए, कुछ इस अन्दाज़ से खोला कि हम सब बेइख़्तियार हँस पड़े। लेकिन फ़ौरन ही हम चुप हो गये।

सामने बजरी बिछी रविश पर एक अजनबी औरत हमारी भारी-भरकम हेयर ड्रेसर के साथ मेकअप-रूम की तरफ़ जा रही थी।

दता राम पायी ने अपने काले, मोटे और बदशक्ल होंट चियारे और ख़ौफ़नाक तौर पर आगे बढ़े हुए हुए औधे-सीधे, मैले दाँतों, की नुमाइश की और वाचा को कोहनी का ठहोका दे कर अशोक से मुख़ातिब हुआ, "यह...यह कौन है?"

वाचा ने पायी के सिर पर एक घौल जमाई। "साले, तू क्यों पूछता है...?"

पायी बदला लेने के लिए उठा तो वाचा ने उसकी कलाई पकड़ ली, "बैठ जा साले, मत जा उधर...तेरी तो शक्ल देखते ही भाग जायेगी।"

पायी आपने औधे-सीधे दाँत पीसता रह गया। अशोक, जो अभी तक ख़ामोश बैठा था, बोला, "शक्ल-सूरत से तो अच्छी-ख़ासी है।"

मैंने एक पल के लिए ग़ौर किया और कहा, "हाँ...नज़रों पर गिराँ नहीं गुज़रती।"

अशोक मेरा मतलब न समझा, "कहाँ से नहीं गुज़रती।"

मैं मुस्कराया, "मेरा मतलब यह था कि जो औरत यहाँ से गुज़र कर गयी है उसे देख कर आँखों पर बोझ नहीं पड़ता...बड़ी साफ़-सुथरी है, लेकिन क़द की ज़रा छोटी है।"

पायी ने फिर अपने दाँतों की नुमाइश की, "अरे...चलेगी...क्यों वाचा?"

वाचा, पायी की बजाय अशोक से मुख़ातिब हुआ, "दादा मनि! तुम जानते हो यह कोन है?"

अशोक ने जवाब दिया, "ज़्यादा नहीं जानता, मुकर्जी से सिर्फ़ इतना मालूम हुआ था कि एक औरत टेस्ट के लिए आज आने वाली है।"

कैमरा और साउण्ड टेस्ट लिया गया जिसे हम सब ने पर्दे पर देखा और अपनी-अपनी राय दी। मुझे, अशोक और वाचा को वह बिलकुल पसन्द न आयी। इसलिए कि उसकी शारीरिक हाव-भाव लकड़ी जैसे थे। उसके अंगों की हर जुम्बिश में बनावट और दिखावा था। संवाद अदा करते वक़्त उसकी भवें पेशेवर नाचनेवालियों की तरह नाचते थे। मुस्कराहट भी ग़ैर दिलकश थी...लेकिन पायी उस पर लट्टू हो गया। चुनांचे उसने कई मरतबा अपने बदनुमा दाँतों की नुमाइश की और मुकर्जी से कहा कि "वण्डरफुल स्क्रीन फ़ेस" है।

दत्ताराम 'पायी' फ़िल्म एडीटर था। अपने काम का माहिर। 'फ़िल्मिस्तान' चूँकि एक ऐसी संस्था थी जहाँ हर विभाग के आदमी को अपनी राय प्रकट करने की आज़ादी थी, इसलिए दत्ताराम 'पायी' वक़्त-बेवक़्त अपनी राय से हम लोगों को लाभान्वित करता रहता था और ख़ास तौर पर मेरी दिल्लगी और हँसी-मज़ाक़ से दो-चार होता था।

हम लोगों ने अपना फ़ैसला सुना दिया था। लेकिन एस. मुकर्जी ने उस औरत को जिसका नाम 'पारो' था, प्रौपेगैण्डा फ़िल्म के एक रोल के लिए चुन लिया। चुनांचे राय बहादुर चूनी लाल ने फ़ौरन उससे एक फ़िल्म का कॉण्ट्रैक्ट मामूली-सी माहाना तनख़्वाह पर कर लिया।

अब 'पारो' हर रोज़ स्टूडियो आने लगी। बहुत हँसमुख और घुलू-मिट्ठू हो जाने वाली तवायफ़ थी। मेरठ उसका वतन था, जहाँ वह शहर के क़रीब-क़रीब तमाम रंगीन मिज़ाज रईसों की कृपापात्र थी। हज़ारों में खेलती थी, पर उसे फ़िल्मों में आने का शौक था, इसलिए यह शौक़ उसे खींच कर 'फ़िल्मिस्तान' में ले आया।

जब उससे खुल के बातें करने का मौक़ा मिला तो मालूम हुआ कि हज़रत जोश मलीहाबादी और मिस्टर सागर निज़ामी भी अक्सर उसके यहाँ आया-जाया करते थे और उसका मुजरा सुनते थे।

उसकी ज़बान बहुत साफ़ थी और जिल्द भी, जिससे मैं बहुत ज़्यादा मुतासिर हुआ। छोटी आस्तीनों वाले फँसे-फँसे ब्लाउज़ में से उसकी नंगी बाँहें हाथी के दाँतों की तरह दिखायी देती थीं...सफ़ेद, सुडौल, अनुपात में ढली और ख़ूबसूरत। जिल्द में ऐसी चिकनी चमक थी जो देवदार लकड़ी पर रन्दा फेरने पर पैदा होती है। सुबह स्टूडियो आती—नहाई, धोई; साफ़-सुथरी; उजली, सफ़ेद या हल्के रंग की साड़ी पहने हुए। वह किसी साबुन का इश्तहार मालूम होती—शाम को जब घर रवाना होती तो दिन गुज़रने के ग़र्द-ओ-ग़ुबार का एक ज़र्रा तक उस पर नज़र न आता। वैसी ही तरो-ताज़ा होती जैसी सुबह को थी।

दत्ता राम 'पायी' उस पर और ज़्यादा लट्टू हो गया। शूटिंग शुरू हुई नहीं थी, इसलिए उसे फ़ुर्सत-ही-फ़ुर्सत थी। चुनांचे अक्सर 'पारो' के साथ बातें करने में मशग़ूल रहता...मालूम नहीं वह उसके भौण्डे और करख़्त लहजे उसके औंधे-सीधे मैले दाँतों और उसके अनकटे मैल-भरे नाख़ूनों को कैसे बर्दाश्त करती थी...सिर्फ़ एक ही बात समझ में आती है कि तवायफ़ अगर बर्दाश्त करना चाहे तो बहुत कुछ बर्दाश्त कर सकती है।

प्रौपेगैण्डा फ़िल्म की कहानी का ढाँचा मेरे हवाले किया गया कि मैं ध्यान से उसकी जाँच-परख करूँ और जो काट-छाँट और संशोधन मेरी समझ में आये, बयान कर दूँ। मैंने उस ढाँचे के तमाम जोड़ देखे और इस नतीज़े पर पहुँचा कि ऐसा बेजोड़ ढाँचा शायद ही किसी से तैयार हो सके। कोई सिर था न पैर, लेकिन चूँकि मेरी बुद्धि और योग्यता का इम्तहान था, इसलिए मैंने अपना ढाँचा तैयार किया। बड़ी सच्चाई और बड़ी मेहनत से। इसकी वजह यह भी थी कि डायरेक्शन की ज़िम्मेदारी सावक 'वाचा' को सौंपी जाने वाली थी जो मेरा अज़ीज़ दोस्त था।

नया ढाँचा जब 'फ़िल्मिस्तान' की 'फ़ुल बेंच' के सामने पेश हुआ तो मेरी वह हालत थी

जो किसी मुजरिम की हो सकती है।

एस. मुकर्जी ने अपना फ़ैसला इन थोड़े-से शब्दों में दिया, “ठीक है, मगर इसमें सुधार की अभी काफ़ी गुंजाइश है।”

ज्ञान मुकर्जी से पूछा गया तो उन्होंने अपनी आदत के मुताबिक़ मुँह सिकोड़ कर सिर्फ़ इतना कहा “ऑल मोस्ट ठीक है”...ये वो हज़रत थे जो एस. मुकर्जी के डायरेक्ट किए हुए तमाम फ़िल्मों के डायरेक्टर थे, हालाँकि उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में एक फ़ुट फ़िल्म भी डायरेक्ट नहीं की थी।

असल में ‘फ़िल्मिस्तान’ में काम करने का ढब ही निराला था। सारी फ़िल्म आपने डायरेक्ट की है, लेकिन पर्दे पर नाम मेरा दिया जा रहा है। कहानी मैंने लिखी है, लेकिन उसका लेखक आपको बना दिया गया है। बात यह थी कि वहाँ सब मिल-जुल कर काम करते थे। आप इससे अन्दाज़ा कर लीजिए कि दत्ताराम ‘पायी’ जिसे मालूम ही नहीं था कि फ़िल्मी कहानी क्या होती है, मुझे मशवरे दिया करता था।

प्रोपेगैण्डा फ़िल्म की कहानी लिखने की दुश्वारियाँ कुछ वही समझ सकता है जिसने कभी ऐसी कहानी लिखी हो। सबसे ज़्यादा मुश्किल मेरे लिए यह थी कि मुझे पारो को उसकी शक्ल-सूरत, उसके क़द और उसकी अदाकारी की कमज़ोरियों को ध्यान में रखते हुए इस कहानी में दाख़िल करना था। बहरहाल बड़ी माथा-पच्ची के बाद सारे पड़ाव तय हो गये और कहानी की नौक-पलक निकल आयी और शूटिंग शुरू हो गयी।

हमने आपस में मशविरा करके यह तय किया कि जिन दृश्यों में ‘पारो’ का काम है, वे सबसे आख़िर में फ़िल्माए जायें ताकि ‘पारो’ फ़िल्मी फ़िज़ा से और ज़्यादा परिचित हो जाये और उसके दिल-ओ-दिमाग़ से कैमरे की झिझक निकल जाये।

किसी दृश्य की भी शूटिंग हो, वह बराबर हमारे बीच मौजूद रहती। दत्ताराम पायी अब उससे इतना खुल गया था कि उनके बीच मज़ाक़ भी होने लगे थे। पायी की यह छेड़-छाड़ मुझे बहुत भौण्डी मालूम होती, इसलिए मैं पारो के मौजूद न रहने पर उसकी हँसी उड़ाता। कमबख़्त बड़ी ढिठाई से कहता, “साले, तू क्यों जलता है?”

जैसा कि मैं इससे पहले बयान कर चुका हूँ, पारो बहुत हँसमुख और घुल्लू-मिट्ठू हो जाने वाली तवायफ़ थी। स्टूडियो के हर कारकून से वह ऊँच-नीच से बेपरवाह बड़े तपाक से मिलती थी। यही वजह है कि वह बहुत थोड़े अर्से में मक़बूल हो गयी। निचले तबक़े ने उसे मान देते हुए पारो देवी कहना शुरू कर दिया। यह इतना आम हुआ कि फ़िल्म के क्रेडिट्स में पारो के बजाय पारो देवी लिखा गया।

दत्ताराम पायी ने एक क़दम और बढ़ाया। कुछ ऐसी टिप्पस लड़ाई कि एक दिन उसके घर पहुँच गया। थोड़ी देर बैठा पारो से अपना स्वागत-सत्कार कराया और चला आया। इसके बाद उसने हफ़्ते में एक-दो मरतबा बाक़ायदगी के साथ पारो के यहाँ जा धमकना शुरू कर दिया।

पारो अकेली नहीं थी। उसके साथ अधेड़ उम्र का एक मर्द रहता था जो डील-डौल में उससे दुगुना था। मैंने दो-तीन मरतबा उसे पारो के साथ देखा...वह उसका पतिदेव कम और

“थामू” ज़्यादा नज़र आता था।

पायी कैण्टीन में फ़ख्र और ख़ुशी से पारो के साथ अपनी मुलाक़ातों का ज़िक्र नीम आशिकाना अन्दाज़ मे करता कि हँसी आ जाती। मैं और सावक वाचा उसका ख़ूब मज़ाक़ उड़ाते। मगर वह कुछ ऐसा ढीठ था कि उस पर कुछ असर नहीं होता था। कभी-कभी ‘पारो’ भी मौजूद होती। मैं उसकी मौजूदगी में भी पायी के खोटे और भौण्डे इश्क़ का मज़ाक़ उड़ाता। पारो बुरा न मानती और मुस्कराती रहती। इस मुस्कराहट से उसने मेरठ में जाने कितने दिलों को ग़लतफ़हमी में लपेटे रखा होगा।

‘पारो’ में आम तवायफ़ों ऐसा भड़कीला या छिछोरापन नहीं था। वह तमीज़दार महफ़िलों में बैठ कर बड़ी शाइस्तगी से बातचीत कर सकती थी। इसकी वजह यही हो सकती है कि मेरठ में उसके यहाँ आने-जाने वाले ऐरे-ग़ैरे-नत्थू-ख़ैरे नहीं होते थे, बल्कि उनका ताल्लुक़ सोसाइटी के उस तबके से था जिसका झुकाव कभी-कभी ना शाइस्तगी की तरफ़ जिसका झुकाव हुआ करता है।

‘पारो’ अब स्टूडियो की फ़िज़ा में बहुत अच्छी तरह घुल-मिल गयी थी। फ़िल्मी दुनिया में अक्सर ऐसा होता है कि जब कोई औरत या लड़की नयी-नयी ऐक्ट्रेस बनती है तो उसको कोई-न-कोई फ़ौरन दबोच लेता है, लेकिन पारो के साथ ऐसा न हुआ। शायद इसलिए कि ‘फ़िल्मिस्तान’ दूसरी फ़िल्म कम्पनियों के मुक़ाबले में बहुत हद तक पाकबाज़ था। एक वजह यह भी हो सकती है कि पारो को कोई इतनी ज़्यादा जल्दी नहीं थी।

मोहसिन अब्दुल्लाह (पुरअसरार नीना का पति*) अपनी एकरस, सूखी और अकेली ज़िन्दगी से उकता कर पारसी लड़की वीरा को, जिसकी ज़िन्दगी मोहसिन अब्दुल्लाह की ज़िन्दगी की तरह सपाट थी, जीवन-संगिनी बनाने की कोशिश कर रहा था। इस ग़रज़ के लिए उसे हमारे साथ सैकेण्ड क्लास में सफ़र करना छोड़ना पड़ा, क्योंकि ‘वीरा’ फ़र्स्ट क्लास में आती-जाती थी। इसके बाद उसको एटीकेट के मुताबिक़ आते-जाते, उसकी कुतिया की ज़ंजीर थामनी पड़ीं...आशिकों के इमाम मियाँ मजनूँ को भी तो लैला की कुतिया अज़ीज़ थी—इसलिए मोहसिन अब्दुल्लाह अपनी ‘व्यस्तता’ की वजह से पारो की तरफ़ ध्यान न दे सका।

‘वाचा’ को उससे कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसने बड़ी मुश्किलों से ताज़ा-ताज़ा अपनी बदकार फ्रांसीसी बीवी से निजात हासिल की थी। एस. मुकर्जी परी चेहरा नसीम बानो के चक्कर में था। ज्ञान मुकर्जी का तो सवाल ही पैदा नहीं होता था...अपने सिलसिले में मैं सिर्फ़ इतना ही कह सकता हूँ कि मुझे उसकी जिल्द बहुत पसन्द थी। एक दिन मैंने शाहिद लतीफ़** से इसका ज़िक्र किया तो उसने मुस्करा कर कहा, “जिल्द पसन्द है, ठीक है; लेकिन तुम्हें क्या मालूम कि अन्दर किताब कैसी है, मज़मून कैसा है।”

पायी की हालत अब बहुत ज़्यादा हास्यास्पद हो गयी थी, इसलिए कि ‘पारो ने एक रोज़ उसे अपने घर बुलाया था और अपने हाथ से उसे दो पेग जॉनीवॉकर व्हिस्की के पिलाये थे। जब उसको बहुत ज़्यादा नशा हो गया था तो पारो ने उसको बड़े प्यार से अपने सोफ़े पर लिटा दिया था...अब उसको यक़ीन हो गया था कि वह उस पर मरती है और हम लोग चूँकि

नाकाम रहे हैं, इसलिए ईर्ष्या की आग में जलते हैं...इस बारे में 'पारो' का क्या सोचना कहना था, यह मुझे मालूम नहीं।

शूटिंग जारी थी। 'वीरा' फ़िल्म की हीरोइन थी। साइड हीरोइन का रोल 'पारो' को अदा करना था। उसे बरमा के किसी आज़ाद ज़गली क़बीले की एक चंचल, सुन्दर, चतुर और चुलबुली लड़की का रूप धरना था। ज्यों-ज्यों उसके सीन फ़िल्माए जाने का वक़्त क़रीब आ गया, मेरे अन्देशे बढ़ते गये। मुझे डर था कि वह इम्तहान में पूरी नहीं उतरेगी और हम सब की कोफ़्त का कारण बनेगी।

आख़िर वह दिन आ गया जब उसका पहला शूटिंग डे था। मेकअप और कास्ट्यूम से सजा कर उसे कैमरे के सामने लाया गया। अजीबो-ग़रीब तराश की भड़कीले रंगों वाली फँसी-फँसी चोली, नाभि से ऊपर पेट की हल्की-सी झलक, घुटनों से बालिश्त भर ऊपर लँहगा।

ऐसा मालूम होता था कि उसे कैमरे, माइक और चकाचौंध करने वाली रौशनियों से बिलकुल झिझक या डर नहीं। संवाद उसको अच्छी तरह याद करा लिये गये थे। उम्मीद थी कि बोल ले जायेगी। मगर जब 'टेक' का वक़्त आया तो उसका सारा वजूद लकड़ी हो गया। मुँह खोला तो डायलॉग सपाट। कई रिहर्सलें कराई गयीं, मगर उस लकड़ी में जान के आसार पैदा न हुए। पेशेवर नाचने वालियों की तरह अपनी भवें नचाती थी जैसे भाव बता रही है। तीन-चार 'री टेक' हुए तो मैं बिलकुल मायूस हो गया। 'वाचा' स्वभाव से बहुत जल्द घबरा जाने वाला है। उसने देखा कि उस ऊँटनी की कोई कल सीधी नहीं तो उसने एस. मुकर्जी से कहा कि वही उसको ठीक करे।

मुकर्जी उसको क्या ठीक करता। वह बनी ही कुछ ऐसे ढाँचे से थी जिसमें बनाव और भाव और नाच कूट-कूट कर भरा था, चुनांचे एक 'टेक' में उसने किसी क़दर गवारा ऐक्टिंग की तो मुकर्जी ने ग़नीमत समझ स्वीकार कर लिया।

हम सब ने बड़ी कोशिश की कि उसका बनावटीपन और लकड़ी सरीखा कड़ापन किसी-न-किसी हीले दूर हो जाये, मगर नाकाम रहे। शूटिंग जारी रही और वह बिलकुल न सुधरी। उस को कैमरे और माइक का कोई ख़ौफ़ नहीं था। मगर सेट पर वह अदाकारी के अपेक्षित जौहर दिखाने में असमर्थ थी—इसकी वजह मेरठ के मुजरों के सिवा और क्या हो सकती है। बहरहाल, हमें इतनी उम्मीद ज़रूर थी कि वह किसी-न-किसी रोज़ मँज जायेगी।

चूँकि मुझे उसकी तरफ़ से बहुत मायूसी हुई थी इसलिए मैंने उसके 'रोल' में कतरब्योंत शुरू कर दी थी। मेरी इस 'चालाकी' का इल्म उसे पायी के ज़रिये से हो गया। इसलिए उसने ख़ाली वक़्त में मेरे पास आना शुरू कर दिया। घण्टों बैठी इधर-उधर की बातें करती रहती। बड़े शाइस्ता अन्दाज़ में मुनासिब और सही शब्दों में, जिनमें चापलूसी का रंग नहीं होता, मेरी तारीफ़ करती।

एक-दो मरतबा उसने मुझे अपने घर पर आने की दावत भी दी। मैं शायद चला जाता, लेकिन उन दिनों बहुत व्यस्त था। हर वक़्त मेरी नसों पर प्रौपेगैण्डा फ़िल्म का सिनेरियो सवार रहता था। यूँ तो मेरा हाथ बँटाने के लिए तीन आदमी मौजूद थे। राजा मेहदी अली ख़ाँ,

मोहसिन अब्दुल्लाह और दीक्षित...।

राजा मेंहदी अली ख़ाँ ने सहयोग करने से साफ़ इंकार कर दिया था, इसलिए कि वह हर वक़्त अपनी रूठी हुई बीवी को ख़त लिखने में जुटे रहते थे। मोहसिन अब्दुल्लाह 'वीरा' से अपने ताल्लुकात करने में मशग़ुल और मिस्टर दीक्षित 'पारो' को संवाद याद कराते रहते थे।

मैं कुछ अर्से से नोट कर रहा था कि पारो और अशोक सेट पर जब आमने-सामने आते हैं और पारो को अपने अंगों से इश्क़ का इज़हार करना होता है तो उसकी आँखें अशोक की आँखों में गड़ जाना चाहती हैं...जैसे वे यह बताना चाहती हों कि देखो, जो कुछ यह हो रहा है, झूठ नहीं, सच है।

अशोक स्वभाव, बहुत झेंपू क़िस्म का आदमी है। वह बरदाश्त नहीं कर सकता कि कोई औरत खुल्लम-खुल्ला उससे प्रेम प्रकट करे। यह मुझे मालूम था कि अशोक को पारो पसन्द है, लेकिन उसमें इतनी जुर्रत नहीं थी कि उससे जिस्मानी ताल्लुक पैदा कर लेता...उसकी ज़िन्दगी में सैकड़ों नहीं, हज़ारों लड़कियाँ आयीं...वह लॉर्ड बायरन बन सकता था, मगर शर्मीली तबीयत के कारण उन आसानी से फँस जाने वाली तितलियों से अपना दामन छुड़ा के भाग जाता रहा।

अशोक कुमार का यह वह ज़माना था जब वह किसी भी ऐक्ट्रेस पर हाथ डाल सकता था, बड़ी आसानी से, कई ऐक्ट्रेस अपना दिल उसके क़दमों में डालने के लिए तैयार थीं। मैंने सोचा अगर पारो के दिल में भी ख़ुद-बुद हो रही है तो कोई ताज्जुब की बात नहीं...फिर पारो नयी-नयी आने वाली थी। ख़ुद को अशोक के साथ नत्थी करके वह शोहरत के शिखर पर बड़ी जल्दी पहुँच सकती थी।

फ़िल्म में पारो का रोल एक आज़ाद क़बीले की नीम जंगली, चुलबुली और शिकारियों जैसा इश्क़ करने वाली लड़की का था। वह अशोक से मुहब्बत करती थी। मगर वह वीरा के इश्क़ में गिरफ़्तार था। यह फ़िल्मी तिकोन पारो के अन्दरूनी जज़्बात को भड़काने के लिए काफ़ी सामान एक साथ पहुँचा रही थी।

शूटिंग जारी थी। इन डोर, आउट डोर...एक दिन कश्तियों का सीन फ़िल्माया जाने वाला था। इसके लिए बहुत दूर एक खाड़ी चुनी गयी। दो कश्तियाँ थीं। एक में अशोक को सवार होना था, दूसरी में पारो को...उसे यह हिदायत थी कि जब उसकी कश्ती, अशोक की कश्ती के पास पहुँचे तो वह उसमें कूद जाये।

पानी बहुत गहरा था। हिदायत के मुताबिक पारो अशोक की कश्ती में कूदी, मगर ऐसा करते हुए दोनों कश्तियों में फ़ासला कुछ ज़्यादा हो गया और वह पानी में गिर पड़ी। वाचा मदद के लिए चिल्लाया, फ़ौरन किनारे पर से दो-तीन मछेरे पानी के अन्दर घुसे और पारो को घसीटते हुए बाहर ले आये।

औरत ज़ात, मगर हैरत है कि इस हादसे ने उसे बिलकुल ख़ौफ़ज़दा नहीं किया था... कपड़े सूख गये तो वह फ़ौरन दूसरे टेक के लिए तैयार थी।

जब वह अपने भीगे हुए कपड़े निचोड़ रही थी तो मैंने और अशोक ने उसकी टाँग की एक झलक देखी जो काफ़ी दिलचस्प और शरीर थी। जब हम 'लोकेशन' से छुट्टी पा कर घर

की तरफ़ रवाना हुए तो रास्ते में अशोक ने मुझसे कहा, “मंटो...! टाँग बड़ी अच्छी थी, जी चाहता था रोस्ट बना के खा जाऊँ!”

अजीब बात है कि अशोक जैसा डरपोक और झेंपू आदमी अन्दरूनी तौर पर सैडिस्ट[1] था। इसकी वजह यही हो सकती है कि वह चूँकि अपने जज़्बात दबा देने का आदी था, इसलिए इसकी प्रतिक्रिया में उसके अन्दर सैडिज़्म[2] पैदा हो गया था।

टू सीटर एम.जी. कार में अशोक और मैं, दोनों स्टूडियो से घर वापस जाया करते थे और रास्ते में इधर-उधर की बहुत-सी बातें किया करते थे...मोटर उस सड़क पर से भी गुज़रती थी जिससे जुड़ी हुई गली में पारो का फ़्लैट था। एक शाम जब हम वहाँ से गुज़रे तो थोड़ी दूर आगे निकल कर अशोक ने मोटर रोक ली। मैंने उससे पूछा, “क्या बात है?”

मुड़ कर अशोक ने उस गली की तरफ़ देखा और कहा, “आज होली की ख़ुशी में पारो ने दावत दी है...जाऊँ या न जाऊँ?”

मुझे क्या एतराज़ हो सकता था, “जाओ।”

“तो चलो, तुम भी चलो।”

मैने कहा, “मैं क्यों चलूँ...मुझे उसने दावत नहीं दी।”

“कोई बात नहीं...!” यह कह कर उसने तेज़ी से मोटर घुमाई और पारो के फ़्लैट के पास ब्रेक लगायी। हॉर्न बजाया तो बालक़नी में वाचा और पायी नमूदार हुए।

पायी ने मुझे देखा तो अपने घिनौने दाँतों की नुमाइश करते हुए बोला, “अरे...तुम भी आ गये।”

वाचा ने अशोक से कहा, “आओ दादा मनि, आओ...तुम्हारा ही इन्तज़ार हो रहा था।”

पारो आम दिनों के विपरीत बनारसी साड़ी में लिपटी हुई दुल्हन-सी बनी बैठी थी। हम कमरे में दाख़िल हुए तो उसने उठकर स्वागत किया। मुझे देख कर उसने बड़े मुनासिब शब्दों में माफ़ी माँगी कि वह मुझे दावत देना भूल गयी।

फ़ौरन शराब का दौर शुरू हो गया। पहला पेग ख़त्म हुआ तो पायी झूमने लगा। वाचा ने फ़रमाइश की कि एक-आध गाना हो जाये। पारो ने चुगलियाँ खाने वाली निगाहों से अशोक की तरफ़ देखा और कहा, “क्यों अशोक साहब! आप कुछ सुनेंगे?”

अशोक झेंप गया और अपने ख़ास अक्खड़ अन्दाज़ में सिर्फ़ इतना कह सका, “आप गाएँगी तो मैं सुनूँगा।”

गाना शुरू हुआ। बाज़ारी क़िस्म की ठुमरी थी। इसके बाद एक ग़ज़ल हुई, फिर कोई फ़िल्मी गीत। इस दौरान में पारो का शौहर या जो कोई भी वह था, गिलासों में शराब और सोडा उँड़ेलता रहा। दूसरे पेग के बाद पायी की आँखें मुँदने लगीं। अशोक ज़्यादा पीने का आदी नहीं, इसलिए डेढ़ पेग से आगे न बढ़ा। वाचा ने तीसरे पर अपने गिलास का मुँह बन्द कर दिया।

ठुमरियाँ, ग़ज़लें, गीत बहुत देर तक होते रहे। आख़िर में जब उसने भजन सुनाया तो उसने मेरी मौजूदगी का एहसास करके एक नात शुरू की, लेकिन मैंने फ़ौरन उसको रोक दिया, “पारो देवी! यह ख़ुशी की महफ़िल है...शराब के दौर चल रहे हैं। यहाँ काली कमली

वाले का ज़िक्र न किया जाये तो अच्छा है।"

उसने अपनी ग़लती स्वीकार की और मुझसे माफ़ी माँगी।

खाना बहुत अच्छा था...अशोक जल्दी खा कर उठ गया। उसके हाथ धुलवाने के लिए पारो उठी...जब अशोक वापस आया तो वह घबराया हुआ था। जल्दी-जल्दी उसने रुख़्सत चाही और मुझे साथ ले कर वहाँ से चल दिया।

रास्ते में कोई बात न हुई। उसने मुझे मेरे घर छोड़ा और चला गया।

कई दिन गुज़र गये। शूटिंग बड़ी बाक़ायदगी से हो रही थी...एक शाम जब मैं और अशोक वापस घर जा रहे थे तो शिवाजी पार्क के पास, जहाँ पारो का फ़्लैट था, अशोक ने मोटर की रफ़्तार कम की और मुझसे मुख़ातिब हुआ, "मंटो। तुम्हें एक दिलचस्प बात बताऊँ?"

उसके लहजे में किसी क़दर कँपकँपाहट थी।

मैंने एक पल के लिए सोचा कि यह दिलचस्प बात क्या हो सकती है, "बताओ।"

अशोक हँसने लगा, "तुम्हें याद है उस रोज़ जब हम पारो के यहाँ खाना खा रहे थे, तो वह मेरे हाथ धुलवाने के लिए उठी थी...!"

अशोक ने यह कहा तो मुझे उसकी घबराहट याद आ गयी, "हाँ-हाँ।"

"जब ग़ुसलख़ाने में उसने मुझे तौलिया दिया तो मुझसे आहिस्ता से कहा कल आप अकेले आइए...शाम को साढ़े छह बजे...मैं घबरा गया और तौलिया फेंक कर बाहर निकल आया।" अशोक ने मोटर सड़क के किनारे ठहरा ली।

मैंने उससे पूछा, "तुम गये?"

"हाँ...।" अशोक ने स्टीयरिंग ह्वील से हाथ हटाए और उन्हें ज़ोर-ज़ोर से मलने लगा, "लेकिन वहाँ से भी भाग आया।"

मैं तफ़सील जानना चाहता था, "हुआ क्या...पूरा सिनारियो बताओ!"

"मैं बड़ा डरपोक हूँ...जाने मुझे ऐसे मौक़ों पर क्या हो जाता है...उसने मुझे सोफ़े पर बैठाया। आप क़ालीन पर मेरे साथ लग कर बैठ गयी। दो पेग मुझे पिलाये। ख़ुद भी थोड़ी-सी पी और फिर...फिर वह लगी अपनी मुहब्बत दिखाने...मैं सुनता रहा और काँपता रहा। जब उसने मेरा हाथ दबाया तो मैंने उसे बड़े ज़ोर से झटक दिया...उसकी आँखों में आँसू आ गये, लेकिन फ़ौरन कहीं ग़ायब हो गये...वह मुस्कराने लगी...भय्या अशोक। मैं तो आपका इम्तहान ले रही थी...मैंने यह सुना तो चकरा गया। उठा तो उसने फिर कहा, अशोक साहब! मैं तो आपको अपना भाई समझती हूँ...मैंने कुछ न कहा और नीचे उतर गया...कार में बैठा...घर पहुँचकर मैंने आधा पेग पी कर सोचा तो मुझे बड़ा अफ़सोस हुआ...क्या हर्ज था अगर मैं..." अशोक के लहजे में अफ़सोस और पछतावा था।

मैंने कहा, "हाँ, कोई हर्ज नहीं था।"

अशोक के लहजे में पछतावा और ज़्यादा हो गया, "और...मुझे वह पसन्द भी थी।"

यह सुन कर मेरे सामने वह दृश्य आ गया जो उस घटनावाले रोज़ रात को नौ बजे स्टूडियो के बाहर सख़्त सर्दी में फ़िल्माया जा रहा था। ख़ुशी के जश्न में लोग नाच-गा रहे

थे...अशोक अपनी हीरोइन वीरा की बाँहो-में-बाँहें डाले नाच रहा था और पारो एक तरफ़ उदासी और दुख की मूरत बनी, अकेली खड़ी थी...!

---

* मोहसिन अब्दुल्लाह पुरअसरार यानी रहस्यमय नीना का भूतपूर्व पति। नीना फ़िल्म ‘मन की जी’ में हीरोइन थी। इस फ़िल्म के गीत जोश मलीहाबादी ने लिखे थे।

** शाहिद लतीफ़ = इस्मत चुग़ताई के पति। प्रसिद्ध प्रोड्यूसर-डायरेक्टर।

1. सैडिस्ट = परपीड़क; 2. सैडिज़्म = दूसरे को तकलीफ़ दे कर मज़ा पाने की प्रवृत्ति।

पुरअसरार नीना

‘शाहिदा’ जो कि मोहसिन अब्दुल्लाह की फ़रमाबर्दार बीवी थी और अपने घर में ख़ुश थी। इसलिए कि अलीगढ़ में मियाँ-बीवी की मुहब्बत हुई थी और यह मुहब्बत उन दोनों के दिलों में एक अर्से तक बरक़रार रही।

शाहिदा इस क़िस्म की लड़की थी जो अपने ख़ाविन्द के सिवा और किसी मर्द की तरफ़ नज़र उठाकर भी नहीं देखती। लेकिन मोहसिन अब्दुल्लाह ऐसा नौजवान था जो मुख़्तलिफ़ मेवे चखने का आदी था। शाहिदा को उसकी इस आदत का इल्म नहीं था। वैसे वह जानती थी कि उसके ख़ाविन्द की बहिनें बड़ी आज़ाद ख़याल हैं, मर्दों से बड़ी बेबाकी से मिलती हैं। उनसे जिन्सयात के बारे में गुफ़्तगू करने से भी नहीं झिझकतीं। मगर उसे उनके यह अन्दाज़ पसन्द नहीं थे।

मोहसिन की एक बहिन (डॉ. रशीदा जहाँ) ने तो ऐसे पर पुर्ज़ें निकाले थे कि हद ही कर दी थी...मैं उन दिनों एम.ए. कॉलेज अमृतसर में पढ़ता था। उसमें एक नये प्रोफ़ेसर साहब ज़ादा महमूदुल ज़फ़र आये। यह डॉक्टर रशीद जहाँ के ख़ाविन्द थे।

मैं बहुत पीछे चला गया हूँ। लेकिन वाक़ियात क्योंकि अचानक मेरे दिमाग़ में आ रहे हैं इसलिए मैं मजबूर हूँ कि इस मज़मून का तसलसुल क़ायम नहीं रह सकेगा। बहरहाल आप पढ़ेंगे तो आप कड़ियाँ मिला सकेंगे।

प्रोफ़ेसर साहबज़ादा महमूदुल ज़फ़र बड़े खुश शक्ल नौजवान थे। उनके ख़यालात इश्तिराकी थे। उसी कॉलेज में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ साहब जो बड़े अफ़ीमी क़िस्म के आदमी थे पढ़ाया करते थे। उनसे मेरे बड़े अच्छे मरासिम थे।

एक हफ़्ते की शाम को उन्होंने मुझसे कहा कि वह देहरादून जा रहे हैं। चन्द चीज़ें उन्होंने मुझे बताईं कि मैं ख़रीद कर ले आऊँ। मैंने उनके हुक्म की तामील की। इसके बाद हर हफ़्ते उनके हुक्म की तामील करना मेरा मामूल हो गया।

वह दरअस्ल देहरादून में डॉ. रशीद जहाँ से मिलने जाते थे। उनसे ग़ालबन इनको इश्क़ की क़िस्म का कोई लगाव था। मालूम नहीं उस लगाव का क्या हश्र हुआ। मगर साहब ने उन दिनों अपनी अफ़ीमगी के बावजूद बड़ी ख़ूबसूरत ग़ज़लें लिखीं।

ये तमाम ओक़बी मनाज़िर हैं। मोहसिन अब्दुल्लाह को किसी दोस्त की वसातत से बम्बई टॉकीज़ में मुलाज़मत मिल गयी। उन दिनों यह फ़िल्मी इदारा बड़ा बक़ार रखता था। उसके रूह-ए-खाँ हिमांशु राय थे। वह तनज़ीम और अच्छी फ़ज़ा के बहुत क़ायल थे। उनकी यही ख़्वाहिश होती थी कि वह पढ़े-लिखे लोगों को अपने स्टूडियो में जगह दें।

मोहसिन अब्दुल्लाह को लेबॉर्टी में जगह मिल गयी। हिमांशु राय आनजहानी के एहकाम के मुताबिक़ स्टूडियो के किसी आला और मुतवस्त कारकुन को ‘मिलाड’ (जहाँ कि

यह निगार ख़ाना था) से दूर रिहाइश इख़्तियार करने की इजाज़त नहीं थी। क़रीब-क़रीब सब स्टूडियो के आस-पास ही रहते थे। मोहसिन अब्दुलाह अपनी बीवी 'शाहिदा' के साथ क़रीब ही एक छोटी सी टूटी-फूटी कोठी में मुक़ीम था।

मोहसिन लेबॉर्टी में बड़ी तवज्जह से काम करता था। हिमांशु राय उससे बहुत ख़ुश थे। उसकी तनख़्वाह उतनी ही थी जितनी अशोक कुमार की थी। जब वह उस लेबॉर्टी में मुलाज़िम हुआ था। मगर वह अब क़ामयाब ऐक्टर बन रहा था। उन दिनों आज़ूरी और मुमताज़ भी वहीं थे। मिस्टर मुकर्जी जो उस वक़्त मिस्टर वाचा साउंड रिकार्डिस्ट के असिस्टेंट थे। सब खुश-बाश आदमी थे।

हर साल होली के मौक़े पर बड़ा दिलकश हंगामा-बरपा होता। सब एक-दूसरे पर रंग फेंकते और बड़ी प्यारी रंग-रेलियाँ मचतीं।

'पुनर्तन' की शूटिंग शुरू हुई तो हिमांशु राय ने स्नेह प्रभा प्रधान को जो ख़ासी पढ़ी-लिखी लड़की थी। अपने उस फ़िल्म के लिए हीरोइन मुन्तख़िब किया। उन दिनों ख़्वाजा अहमद अब्बास वहाँ पब्लिसिटी का काम करते थे। मोहसिन और अब्बास दोनों उस लड़की पर आशिक हो गये जो सिन्ध की रहने वाली थी और बम्बई में नर्सिंग का कोर्स मुकम्मल कर चुकी थी। मोहसिन और अब्बास दोनों चाहते थे कि 'प्रभा' उनके जज़्बात की नर्सिंग करे। मगर वह कहीं तेज़ नश्तर थी। वह दोनों को चर्के लगाती थी।

यह एक लम्बी कहानी है जिसे मैं फिर किसी वक़्त लिखूँगा।

मोहसिन उसके इश्क़ में कुछ ऐसा मुब्तिला हुआ कि उसने बेतहाशा जुआ खेलना शुरू कर दिया। उसे जितनी तनख़्वाह मिलती सब कुमारबाज़ी की नज़र हो जाती। शाहिदा सख़्त परेशान थी। उसको अपने घर से हर महीने कुछ-न-कुछ मँगवाना पड़ता था। उसके एक बच्चा भी हो चुका था जो आये दिन बीमार रहता। उसके एलाज पर काफ़ी ख़र्च करना पड़ता था।

शाहिदा ने एक दिन उससे बड़े शरीफ़ाना अन्दाज़ में कहा, "मोहसिन तुम मेरा ख़याल नहीं करते...कम-अज़-कम अपने बच्चे का तो करो।" वह उस पर बहुत बरसा। इसलिए कि उसके सिर जुए और स्नेह प्रभा प्रधान का इश्क़ सवार था।

मैं उन दिनों नानू भाई देसाई के हिन्दोस्तान सीनेटोन स्टूडियो में मुलाज़िम था। शान्ता राम ने जो प्रभात फ़िल्म कम्पनी में कई शानदार फ़िल्म तैयार कर चुके थे, मुझे दावत दी कि तुम पूना आओ। कई सहाफी और अफ़साना-नवीस वहाँ जा रहे थे। यह ख़ैर सगाई क़िस्म की दावत थी। मदअ किये गये लोगों में एक साहब डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद भी थे। जो ग़ालबन साधना बोस की टीम में काम करता था। मुझे इतना याद है अहमद ने मुझसे कहा था कि वह बंगाली के मुकालमे उर्दू में तर्जुमा करता है।

हम पूना में दो रोज़ रहे। इस दौरान में मुझे उसके मुताल्लिक़ कुछ मालूम न हो सका। इसलिए कि वह अपने चेहरे पर ख़ोल चढ़ाए रखता था। उसकी हँसी, उसकी गुफ़्तगू, उसका हर अन्दाज़ मसनूयी-सा दिखायी देता था। एक और बात जो मैंने नोट की थी वह यह थी कि वह मशहूर यहूदी डायरेक्टर अरनेस्ट की तरह हर वक़्त मुँह में एक लम्बा सा सिगार दबाये

रखता था।

इसके बाद मेरी और उसकी मुलाक़ात रामा शुक्ल के मकान पर हुई। वह मेरा दोस्त था। मैं जब उसके कमरे में दाख़िल हुआ तो मैंने देखा कि एक कोने में डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद बैठा रामा की महबूब शराब रम पी रहा है।

उससे अलैक-सलैक हुई, बड़ी रस्मी क़िस्म की। मैंने महसूस किया कि वह किसी से खुलकर बात करने का आदी नहीं। वह एक कछुआ है जो अपनी गर्दन जब चाहे अपने सख़्त ख़ोल के अन्दर छुपा लेता है। आप ढूँढ़ते रहें, मगर न मिले।

मैंने उससे कहा, “अहमद साहब आप कुछ बात तो कीजिए।”

वह अपने मख़सूस अन्दाज़ में हँसा, “आप रामा शुक्ल से बातें कर रहे हैं। क्या यही आपके लिए काफ़ी नहीं है।”

यह जवाब सुन कर मुझे बड़ी कोफ़्त हुई। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मैं किसी सियासतदान से हम कलाम हूँ। सियासत से मुझे सख़्त नफ़रत है।

अहमद से रामा शुक्ल के फ़्लैट पर मुतअदिद मर्तबा मुलाक़ात हुई। लेकिन वह खुलकर फिर भी न बोला...वह कोने में कुर्सी पर बैठा रम पीता रहता था। मैं और रामा शुक्ल अपनी बकवास में मशग़ूल रहते।

क़रीब-क़रीब दो साल गुज़र गये। मुझे किसी ने बताया कि डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद कोई फ़िल्म कम्पनी क़ायम कर रहे हैं...मुझे बड़ी हैरत हुई कि बंगाली के मुकालमे तर्जुमे करने वाला यह शख़्स कैसे फ़िल्म कम्पनी बनाएगा?

मगर उसने बना ली...पूना में उसका नाम शालीमार स्टूडियो रखा गया। इश्तिहारबाज़ी फ़ौरन शुरू हो गयी।

मैंने यह इश्तिहार देखे। उनमें ख़ास ज़ोर एक एक्ट्रेस ‘नीना’ पर दिया जाता था। जिसको बार-बार पुरअसरार कहा जाता था। मेरी समझ में नहीं आता था कि किसी एक्ट्रेस में असरार क्या हो सकता है? जबकि उसे स्क्रीन पर आना है। उसके तो सारे भेद वहीं खुल जायेंगे।

मगर दो बरस तक बराबर यही पब्लिसिटी होती रही। मैंने लोगों से पूछा कि यह पुरअसरार ‘नीना’ कौन है? मगर किसी को उस नये चेहरे के मुताल्लिक़ इल्म नहीं था।

बाबू राव पटेल एडीटर फ़िल्म इण्डिया के साथ मुझे इत्तफ़ाक़न काम करने का मौक़ा मिल गया। मैंने उससे पूछा तो उसने मुझे बताया, “साला तुम जानता नहीं...कैसा एडिटर बना फिरता है। वह...तुम मोहसिन अब्दुल्लाह को जानता है।”

मैंने कहा, “हाँ नाम सुना है...कुछ-कुछ उनके मुताल्लिक़ जानता हूँ।”

“नीना उसकी बीवी है...अब समझा?”

“मैं नहीं समझा।”

“उसका नाम शाहिदा है।”

मैंने जब बाबू राव से मज़ीद इस्तिफ़्सार किया तो उसने मुझे बताया कि शाहिदा रेणुका देवी की भावज है। मैंने उसे बम्बे टॉकीज़ की फ़िल्म ‘भाभी’ में हीरोइन के रोल में देखा था।

और उसकी किरदार-निगारी से बहुत मुतासिर हुआ था। अब मेरे दिमाग़ में दो भाभियाँ थीं। एक बम्बे बॉकीज़ की 'भाभी' दूसरी शाहिदा उर्फ़ नीना, रेणुका देवी की भाभी।

मुझे डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद से मज़ीद मिलने का इत्तफ़ाक़ हुआ और मैंने सोचा कि वह बड़ा अन्दाज़ा गीर है। वह महीन तय करने वाला इंसान है। सोवियत रूस के आमिरों की तरह कई-कई बरसों की स्कीमें बनाता है और बड़े इत्मीनान से उनके नतायज का इन्तिज़ार करता है।

मैं बड़ा जल्दबाज़ हूँ। इसलिए फ़ितरी तौर पर मुझे उससे कोई लगाव नहीं हो सकता था। मैं बड़ बोला था। वह निहायत कम गो। उसमें तसन्नोअ-ही-तसन्नोअ था और मैं उस बनावट का सख़्त मुख़ालिफ़। वह बातें करता था तो मुझे ऐसा महसूस होता कोई मशीन बोल रही है।

लेकिन मुझे इस बात का एतराफ़ है कि वह जब भी बोलता बड़ी जँची-तुली बात कहता, चाहे वह ग़लत ही क्यों न हो। वह कई ज़बानें बोलता था। मराठी, गुजराती, उर्दू, अंग्रेज़ी और पंजाबी। असल में वह पंजाबी है। उसके ख़ानदान के मुताल्लिक़ मुझे कुछ इल्म नहीं। मगर मैं इतना जानता हूँ कि मौलाना सलाह उद्दीन अहमद (एडीटर, अदबी दुनिया) उसके भाई हैं। उसके एक भाई रियाज़ अहमद भी हैं जो किसी अच्छे सरकारी ओहदे पर फ़ायज़ हैं।

यह मज़मून पढ़ने वाले मुश्किल से यक़ीन करेंगे कि मौलाना सलाहउद्दीन अहमद डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद (वहीद) के भाई हैं। लेकिन यह हक़ीक़त है, मुझे मालूम नहीं थे दो भाई एक-दूसरे से मिलते हैं या कि नहीं, लेकिन इन दोनों में एक मुमारालत ज़रूर है कि ख़ुशामद पसन्द हैं।

बात शालीमार स्टूडियोज़ के क़याम की हो रही थी। लेकिन मैं यहाँ आपसे एक और बात अर्ज करना चाहता हूँ जो बहुत ज़रूरी है कि (डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद) सिन्ध के मशहूर वज़ीर-ए-आज़म गुलाम हुसैन हिदायतउल्लाह की लड़की से ब्याहे हुए थे। मालूम नहीं इनका रिश्ता वहाँ कैसे हुआ। इन तफ़सीलात के मुताल्लिक़ मुझे कुछ मालूम नहीं।

आज से एक माह पहले अहमद जब हाल रोड पर अपने बाल कटवाने आया तो मेरी उससे मुलाक़ात हुई। मैं उस हज्जाम के क़रीब ही रहता हूँ। मैं उसको ज़बरदस्ती अपने मकान में ले आया और उससे कहा, "मैं नीना के मुताल्लिक़ कुछ लिखना चाहता हूँ। क्या तुम मुझे इसकी इजाज़त देते हो।"

उसने अपने मख़सूल अन्दाज़ में कहा, "मैं आपको एक-दो रोज़ में बता दूँगा।"

कई रोज़ गुज़र गये। उसके बाद अहमद से मेरी मुलाक़ात डायरेक्टर के दफ़्तर में हुई। मैंने फिर उससे पूछा कि अब इजाज़त देने में कितने रोज़ चाहिए। उसके पाइप लगे होंटों पर उसकी मख़सूस मुस्कराहट पैदा हुई। नीम गंजा सिर ज़रा चमकने लगा और उसने कहा, "मैं आजकल बहुत मसरूफ़ हूँ...बस एक हफ़्ते की मोहलत चाहता हूँ।"

चौधरी फ़ज़ल हक साहब (डायरेक्टर के मालिक) और शबाब साहब (डायरेक्टर के मदीर) बैठे थे। मैंने कहा, "बहुत बेहतर है। एक हफ़्ता गुज़रने में क्या देर लगती है।"

दो हफ़्ते गुज़र चुके मगर मुझे अहमद से इजाज़त नहीं मिली। मैंने सोचा कि ऐसे तकल्लुफ़ की ज़रूरत ही क्या है। हर ऐक्टर, ऐक्ट्रेस लिखने वाला और लिखने वाली अवाम की मिल्कियत होती है अगर तुम उनके मुताल्लिक़ लिखना चाहो तो बग़ैर इज़ाज़त लिख सकते हो।

यही वजह है कि मैंने यह मज़मून लिखना शूरू कर दिया।

शालीमार स्टूडियो क़ायम हो गया। नीना यानी शाहिदा का ख़ाविन्द वहाँ की लेबॉर्टी का इंचार्ज बना दिया गया। अब जो कुछ मेरे इल्म में है आपसे बयान करता हूँ।

शाहिदा को एक्ट्रेस बनने की कोई ख़्वाहिश नहीं थी। वह बड़ी घरेलू क़िस्म की औरत थी। उसको किसी क़िस्म का हंगामा पसन्द नहीं था।

अच्छा अब आप यह भी सुन लीजिए। अहमद जैसा कि मैं कह चुका हूँ बड़ा अन्दाज़ा गीर था। उसने रूसियों की तरह एक पंज साला स्कीम बनाई और उसके मालहत काम करना शुरू कर दिया। इस दौरान में उसने मख़सूस कछुएपन से काम लिया। यह बड़ी लम्बी दास्तान है। मैं इसे बयान नहीं करना चाहता। इसलिए कि इस मज़मून में उससे कोई ज़्यादा असर पैदा नहीं हो सकेगा।

मोहसिन स्नेह प्रभा प्रधान के इश्क़ में मसरूफ़ था। जब माली मुश्क़िलात पैदा हुई तो उसने अपनी बीवी शाहिदा से कहा, “तुम बड़ी बैकवर्ड हो। मेरी बहिनों की तरफ़ देखो कितनी रौशन ख़याल हैं।”

शाहिदा ने ग़ालबन उससे कहा, “मुझे माफ़ कीजिए...मैं इतनी रौशन ख़याल नहीं हो सकती।”

उनके दरमियान कई चख़ें हुईं मोहसिन चाहता था कि वह फ़िल्म लाइन में दाख़िल हो जाये। मगर उसको कोई दिलचस्पी ही नहीं थी।

‘इस्मत’ चुग़ताई ने (अब इस्मत शाहिद लतीफ़ जो ज़िद्दी, आरजू और बुज़दिल जैसे कामयाब फ़िल्मों की कहानी लिख चुकी है) मेरी बीवी से कहा कि शाहिदा अलीगढ़ में उसकी हम-जमात रह चुकी है। बड़ी ऊत है। बहुत सादा लौह।”

मेरी बीवी बड़ी हैरान हुई। उसने ‘इस्मत’ से पूछा, “यह राय तुमने कैसे क़ायम की?”

“मेरी सहेली है। मैं उसको अच्छी तरह जानती हूँ।”

“तुम्हारी मेरे मुताल्लिक़ क्या राय है।”

इस्मत ने जवाब दिया, “तुम तो निरी खरी औरत हो।”

“इसमें क्या ऐब है।”

“कुछ भी नहीं...लेकिन तुम शाहिदा से बहुत ज़्यादा मुख़्तलिफ़ हो...”

“किस लिहाज़ से?”

“वह बेवकूफ़ है। तुम बेवकूफ़ नहीं हो। तुम अपने ख़ाविन्द को सँभालना जानती हो। उसको अपने ख़ाविन्द को सँभालना नहीं आता।”

“यह तुम कैसे कहती हो?”

“मैं तुमसे कह चुकी हूँ कि मैं उसे अच्छी तरह जानती हूँ। उसके सारे घराने से वाक़िफ़

हूँ। बहुत सीधी-सादी सी लड़की थी। हम कॉलेज मैं उसका मज़ाक़ उड़ाया करते थे...वह झेंप-झेंप जाया करती थी।"

इस्मत ने मेरी बीवी को बताया कि उसे इश्क़-ओ-मुहब्बत के मुताल्लिक़ कुछ मालूम नहीं था। उसको हैरत थी कि वह कैसे 'मोहसिन' की मुहब्बत से गिरफ़्तार हो गयी। उसका ख़याल था कि 'मोहसिन' कुछ ज़्यादा ही उसके पीछे पड़ गया होगा कि वह रज़ामन्द हो गयी। इसलिए कि वह तबीयत के लिहाज़ से बहुत नर्म है। उसे इस बात का कोई ख़याल नहीं होता कि आगे चलकर क्या होगा।

'मोहसिन' ने जैसा कि मुझे बाद में मालूम हुआ शाहिदा को मज़बूर किया कि वह फ़िल्म एक्ट्रेस बन जाये। वह बा-दिल-ए-नाख़्वास्ता रज़ामन्द हो गयी। चुनांचे उसके नातवां काँधों पर शालीमार स्टूडियोज़ तामीर कर दिया गया...और अहमद (डब्ल्यू.ज़ेड.) एक प्रोड्यूसर बन गया और उसने शाहिदा को पुर असरार नीना बना दिया। मालूम नहीं यह नाम अहमद ने उसके लिए तजवीज़ किया था या उसके शौहर मोहसिन ने?

अहमद ने फ़िल्म बनाने से पहले पुर असरार नीना की बड़ी तशहीर की। हर पर्चे में यह नाम देखने में आता। लोगों के दिलों में बड़ा इश्तियाक़ पैदा हो गया कि यह कौन सी आफ़त-ए-जान है। चुनांचे उस फ़िल्म का बड़ी बेचैनी से इन्तिज़ार किया जाने लगा। उसका नाम "एक रात" था। मालूम नहीं उसकी तकमील में कितनी रातें उसने काटी होंगी। बहरहाल वह बन गयी।

उस फ़िल्म की कहानी मशहूर नाविल 'टीस' का चर्बा था। उसमें शाहिदा (पुरअसरार नीना) को ग्वालन को रोल दिया गया था। एक शख़्स उसकी इस्मत लूट लेता है। इसके बाद उसकी बाक़ायदा शादी हो जाती है। वह बड़ी भोली-भाली है। अपने ख़ाविन्द से अपनी गुज़श्ता ज़िन्दगी के उस हादसे को बयान कर देती है। वह उसको दुत्कार देता है।

अहमद (डब्ल्यू.ज़ेड.) अपनी पंज साला स्कीम के मातहत शाहिदा से कुछ इस तरह मिल रहा था, जिस तरह मालोकाक किसी दूसरे सफ़ीर से मिल रहा है।

शाहिदा का ख़ाविन्द 'मोहसिन' अपनी सरगर्मियों में मशग़ूल था। उसके नाकाम इश्क़ का सिलसिला स्नेह प्रभा प्रधान से बदस्तूर था। शाहिदा से उसको कोई लगाव नहीं था। यह मैं उस ज़माने की बात कर रहा हूँ जब शालीमार स्टूडियोज़ क़ायम नहीं हुआ था।

उस ज़माने में (मुझे अफ़सोस है कि मैं यह मज़मून ग़ैर मुसलसल लिख रहा हूँ। लेकिन इसके सिवा और कोई चारा भी नहीं। इसलिए कि ख़यालात जैसे दिमाग़ में आते हैं। मैं क़लम बन्द किये जाता हूँ) अहमद जो मोहसिन के दोस्त बन गये थे। शाहिदा को बेगम कहता। उसकी ज़रूरत से ज़्यादा ताज़ीम करता जब वह आती तो उठ खड़ा होता और उसे तसलीमात अर्ज़ करता। अहमद ने यह रवैय्या सोच-समझकर इख़्तियार किया था। इस लिए कि वह मोहसिन की बेपरवाही का तक़ाबुल बनना चाहता था। लेकिन उसे मालूम था...वह बड़ा दक़ीक़ा-शनास था कि वह शाहिदा को एक दो बरस में नहीं तो कम-अज़-कम पाँच बरसों में ज़रूर हासिल करेगा।

अब मैं आपसे अर्ज़ करूँ कि फ़िल्मी दुनिया में अक्सर-ओ-बेश्तर हज़रात औरतों के

ज़रिये से कामयाब हुए हैं। उस के पेश-ए-नज़र भी ग़ालबन यही नुस्ख़ा था। अहमद ने उस पर छा जाने के लिए काफ़ी वक़्त सर्फ़ किया। उसके ख़ाविन्द मोहसिन अब्दुल्लाह को हर सिम्त से खुश करने की कोशिश की, मगर वह तबअन अबाश था।

शालीमार स्टूडियोज़ में जब मोहसिन को लेबार्टी इंचार्ज बना दिया गया और उसकी माकूल तनख़्वाह मुकर्रर कर दी गयी तो उसने अपने शग़ल और ज़्यादा ज़ोर शोर से जारी रखे। शाहिदा ये सब कुछ एक घरेलू औरत के मानिन्द देखती रही। कभी-कभी गिला-शिकवा करती, मगर उसके ख़ाविन्द पर जो तन आसान था, कोई असर न हुआ। उसको बम्बे टॉकीज़ की घुटी-घुटी फ़ज़ा से बाहर निकल कर शालीमार स्टूडियो में एक बहुत बड़ा मैदान मिल गया था। जिसमें वह अपने अशग़ाल में बड़ी बेतकल्लुफ़ी से मसरूफ़ रह सकता था।

शाहिदा गो एक्ट्रेस बन गयी थी। उसे उस ग्वालन का रोल अदा करना था, जिसकी इस्मत लूट ली गयी थी। लेकिन उसे अपने शौहर से प्यार था। वह चाहती थी कि फ़िल्मी दुनिया से निकल कर घरेलू दुनिया में चली जाये। उसे पुर असरार कहलाना पसन्द नहीं था।

लेकिन जब उसके मुताल्लिक़ इश्तिहारबाज़ी होते दो बरस हो गये तो उसके नन्हे से घरौंदें में जिसको दिल कहते हैं, अजीब-अजीब सी धड़कनें पैदा होने लगीं, जिनसे वह पहले ना-आशना थी।

उसके सामने जो तक़ाबुल अहमद ने पेश किया। वह उसके मुताल्लिक़ अब सोचने लगी। वह आदाब का मुजस्समा था। उसके ख़िलाफ़ मोहसिन बहुत तकलीफ़-देह क़िस्म का बे-अदब। वह उससे बहुत बुरा सूलुक करता। इसके अलावा शाहिदा को सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि वह स्टूडियो में दूसरी औरतों से इश्क़ लड़ाता फिरता था।

अहमद ने मोहसिन को जिस ओहदे पर मुक़र्रर किया था, वह उसे उसकी स्कीम के मुताबिक़ सँभाल न सका। उसने मोहसिन को कभी टोका नहीं था कि वह जुआ क्यों खेलता है। रेस में रुपया क्यों हारता है। स्टूडियो की लड़कियों से क्यों दिलचस्पी लेता है। वह चाहता था कि बुरी तरह वह इन ख़राबियों में गिरफ़्तार हो जाये। इसलिए कि वह ख़ुद एक बहुत बड़ी ख़राबी के दर पे था।

अहमद की स्कीम में जो कुछ था वह तो ज़ाहिर है। लेकिन भोली-भाली शाहिदा उसे न समझ सकी। वह अपने दिल की अजीब-ओ-ग़रीब धड़कनों को भी नहीं समझती थी। मेकअप करती। आइने में अपनी शक्ल देखती और शरमा जाती उसे यूँ महसूस होता कि वह गाल्ज़वर्दी के नाविल 'टीस' की ग्वालन है जिसकी इस्मत लूटी जाने वाली है।

उसने जब फ़िल्म में अपना रोल अदा करना शुरू किया तो उसका हिजाब किसी क़दर दूर हो गया...'मोहसिन' उसी क़दर उससे दूर होता गया। वह यूँ महसूस करने लगी कि उसके कच्चे मटके तड़क रहे हैं...वह नहीं चाहती थी कि ये क़ीमती मटके टूटें लेकिन अहमद ने उनकी तरेड़ों को यक़ीन दिलाया कि वह ख़ुद-बख़ुद ठीक हो जायेंगी।

तरेड़ें आहिस्ता-आहिस्ता ठीक होने लगीं। इसलिए कि अहमद ऐसे मामलों में बड़ा माहिर कारीगर है। उसने उनमें अपनी सियासत का सीमेंट भरना शुरू कर दिया...उसके साथ-साथ मोहसिन के भी चूना लगा रहा था।

अहमद बड़ा अच्छा मे'मार है। उसने अपना काम बहुत आहिस्ता मगर बड़ी सफ़ाई से किया। आख़िर वह मोहसिन की ईंट को अपनी इमारत से निकालने में क़ामयाब हो गया।

उसने इस दौरान में शाहिदा को यक़ीन दिला दिया था कि उसका शौहर एक अबाश और नाकारा आदमी है। उसने उसको महज़ इसलिए अपने कारोबार में शरीक किया था कि उसकी आदत सुधर जायेगी। मगर वह उस क़ाबिल साबित नहीं हुआ।

शाहिदा ये सब बातें सुनती रही और उसको यक़ीन सा आने लगा कि शायद यह दुरुस्त हैं। लेबार्टी का काम बहुत सुस्त रफ़्तार था। ख़ुद अहमद भी चींटी की चाल चलने का आदी है लेकिन एक दिन उसने मोहसिन से बड़ी नर्मी से कहा, "देखिए आपसे काम नहीं होता। शायद इसलिए कि आप उसे अपने रूतबे के मुताबिक़ नहीं समझते। मैं लेबॉर्टी किसी और के हवाले कर देता हूँ। जो तनख़्वाह आपकी मुक़र्रर की गयी थी बराबर आपको मिलती रहेगी।"

मोहसिन पहले तो सख़्त तैश में आ गया। लेकिन उसकी यह आग फ़ौरन अहमद ने बुझा दी इसलिए कि वह बड़ा अच्छा फ़ायर ब्रेगेड है। चुनांचे शाहिदा का ख़ाविन्द मुलाज़मत से अलाहिदा हो गया और उसे पेंशन मिलने लगी।

मैं मोहसिन को अच्छी तरह जानता हूँ वह बयक वक़्त ज़किल हिस और बेहिस है। उस वक़्त शायद उसपर बेहिसी तारी थी कि उसने अहमद का यह फ़ैसला कुबूल कर लिया।

उसको इस बात का क़तअन इल्म नहीं था कि उसकी बीवी जिसमें वह ग़फ़लत बरत रहा है और जिसको उसने मजबूर किया है कि वह उसकी बहिनों की तरह आज़ाद हो। उसकी माँग में कोई और हौले-हौले सिन्दूर डाल रहा है। वह क़तअन ग़ाफिल था...उसको दरअस्ल अपनी बीवी से ज़्यादा दिलचस्पी नहीं थी। उसको बम्बई और पूना के घोड़ों, ताश के पत्तों और पूना की काश्टों से शुग़फ़ था।

फ़िल्म बन रहा थी। शाहिदा ग्वालन बनी पुरअसरार नीना के नाम से उसमें काम करने में मसरूफ़ थी और अहमद डायरेक्टर की हैसियत से उसको ऐसी डायरेक्शन दे रहा था जो उसके मक़सद को पूरा कर सके।

मोहसिन अब्दुल्लाह काफ़ी वजीह मर्द है। लम-तड़ंग मज़बूत जिस्म, तालीम याफ़्ता, मगर ज़रूरत से ज़्यादा रौशन ख़्याल। उसने शालीमार स्टूडियोज़ से अलहदगी इख़्तियार कर ली और अपनी बीवी की मुफ़ारक़त के मुताल्लिक़ जिससे उसने इश्क़ के मातहत शादी की थी कुछ ज़्यादा ख़याल न किया। उसे शाहिदा पर कामिल एतबार था। लेकिन इसके बावजूद उसे उसकी कोई परवाह भी नहीं थी। वह अब आज़ाद था और उस आज़ादी से फ़ायदा उठाना चाहता था।

डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद बड़ा ज़ोरदार आदमी है। वह अपने अमले के दूसरे आदमियों को अगर वक़्त पर तनख़्वाह न दे सकता तो मोहसिन को उसकी पेंशन मुकर्रर वक़्त पर ज़रूर अदा कर देता। यह उसके कैरक्टर का एक ख़ास पहलू है। वह छिछोरा था कमीना नहीं। उसमें एक आला ख़ानदान के फ़र्द की तमाम खसूसयात मौजूद हैं। लेकिन सुये इत्तफ़ाक़ से वह चूँकि फ़िल्मी दुनिया में दाख़िल हो गया था और उसकी तबीयत सरासर सियासी थी।

इसलिए उसे उस माहौल के मुताबिक़ खुद को ढालना पड़ा। उसके पास कोई सरमाया नहीं था लेकिन उसने लाखों रुपये समेटे। उनको उसने किसी अय्याशी में तबाह नहीं किया। दरअस्ल वह बड़ा सहल अंगार और सुस्त रफ़्तार है। इसके अलावा खुशामदपसन्द भी। वह बड़े छोटे पैमाने पर एक मुग़ल बादशाह है जो अपने इर्द-गिर्द शायरों, भाण्डों और इसी किस्म के दूसरों लोगों का जमघुटा लगाये रखते थे।

जैसा कि मैं शायद इससे पेश्तर अर्ज़ कर चुका हूँ, उसके यहाँ साग़र 'निज़ामी', 'जोश' मलीहाबादी, जांनिसार अख़्तर, कृष्ण चन्द्र, एम.ए. और भरत व्यास मुलाज़िम थे। इनके अलावा डॉ. अब्दुल्लाह चुग़ताई और मेरा भाँजा मसूद परवेज़ भी थे। ये सब अहमद के मकान के एक कमरे में बैठते। कहानी के मुकालमों पर बड़ी गर्मागर्म बहसें होतीं। सारी रात गुज़र जाती और कोई फैसला न होता, इसलिए कि दरबारी माहौल होता था। कोई बात शुरू हुई तो जोश मलीहाबादी ने मौक़ा-महल के मुताबिक़ अशआर सुनाने शुरू कर दिये। वाह-वाह हो रही है। मसूद परवेज़ जिस का दिमाग़ उस ज़माने में हाज़िर था। फ़ौरन उसी ज़मीन में चन्द शेर खोद डाले। सागर निज़ामी को ताव आया तो उसने एक लम्बी नज़्म तरन्नुम में पढ़ दी। कृष्ण चन्द्र उल्लू बना बैठा रहता। अफ़साना-निगार था। उसको शेरों से भला क्या वास्ता।

उन नशिस्तों में काम बहुत कम होता। बातें बहुत ज़्यादा होतीं। भरत व्यास को यह एहसास-ए-कमतरी था कि वह उर्दू जबान नहीं जानता। इसलिए वह अपनी संस्कृत आमेज़ हिन्दी बघारना शुरू कर देता।

कभी-कभी अहमद जब कोई मौज़ूँ फ़िक़रा बोलते तो जोश मलीहाबादी अश-अश करते और कहते, "अहमद साहब तो शायर हैं।" बस अहमद साहब उस वक़्त अपना काम भूल जाते और शेर फ़िक्र करने लगते। महफिल बर-ख़्वास्त कर दी जाती और वह सारी रात ग़ज़ल की तकमील में मसरूफ़ होते और जो मेरा ख़याल है आज तक एक भी मुकम्मल नहीं हुई।

ये सब लोग अहमद के ख़ुशामदी थे। जोश मलीहाबादी को हर शाम रम का अद्धा मिल जाता था। शुरू-शुरू में शालीमार स्टूडियो में चन्द महीनों तक बाक़ायदा तनख़्वाहें मिलती रहीं। इसके बाद बे क़ायदगी शुरू हो गयी। अमले के आदमी सिर्फ़ एडवांस लेते थे।

वहाँ की फ़ज़ा अजीब-ओ-ग़रीब थी। डायरेक्टर एक था, मगर उसके असिस्टेण्ट दस-बारह के क़रीब थे। असिस्टेन्ट के असिस्टेण्ट और दर असिस्टेण्ट। मालूम नहीं ये लोग गुज़ारा कैसे करते थे। इसलिए कि तनख़्वाह तो वक़्त पर मिलती ही नहीं थी।

बहरहाल अहमद का मोअज़्ज़ह है कि उसने शालीमार स्टूडियो का भ्रम किसी-न-किसी तरह क़ायम रखा हुआ था। वह बड़ा काइयाँ इंसान है। उसको मुश्किल-से-मुश्किल वक़्त भी परेशान नहीं कर सकता। बड़े इत्मीनान से चाँदी की डिबिया में से पान निकालेगा। बटुए में से छालिया और तम्बाकू को निकाल कर कल्ले में दबायेगा और मुस्कराना शुरू कर देगा।

उसमें वो तमाम खुसूसियात मौजूद हैं जो किसी प्रकार सियासत दान में हो सकती हैं। उसने इसी सियासत की बदौलत शालीमार स्टूडियो बनाया और आहिस्ता-आहिस्ता अपना

रास्ता माप कर शाहिदा पर क़ब्ज़ा कर लिया। मेरी समझ में नहीं आता कि उसको शाहिदा में ऐसी क्या कशिश दिखायी दी कि उसने उसके स्टाप जिस्म पर एक निगार-ख़ाना तामीर कर दिया। वह ऐसी औरत ही नहीं थी जो एक्ट्रेस बनने के क़ाबिल हो। मगर शायद अहमद को उस वक़्त कोई और लड़की मुयस्सर नहीं थी या आसानी से हाथ नहीं लग सकती थी कि उसने अपने दोस्त मोहसिन की बीवी से फ़ायदा उठाने की कोशिश की और बाद में वह उसके घरेलूपन से इतना मुतास्सिर हुआ कि उसकी मुहब्बत में गिरफ़्तार हो गया।

लेकिन यह अम्र भी मुशतबा है, हो सकता है, अहमद को शाहिदा से भी मुहब्बत न हुई हो। महज़ अपने मुफ़ाद की ख़ातिर जब वह उस पर लगातार अपनी शराफ़त का बोझ डालता रहा तो वह अपने ख़ाविन्द मोहसिन अब्दुल्लाह को भूलती गयी। मगर यह नज़रिया भी दुरुस्त नहीं क्योंकि मुझे मालूम है कि तलाक़ होने तक वह अपने शौहर से जुदा होना पसन्द नहीं करती थी। मैं इसके मुतालिक़ आगे चलकर कुछ अर्ज़ करूँ। लेकिन मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि ‘शाहिदा’, ‘अहमद’ के साथ क्यों रहती थी। ठहरिए...मैं भूल गया। शुरू-शुरू में वे दोनों अलग-अलग रहते थे, लेकिन बाद में एक ही कोठी में रहने लगे।

जाने कौन-सा सन् था। मैं फ़िल्मिस्तान में मुलाज़िम था। एस. मुकर्जी वहाँ के प्रोडक्शन कण्ट्रोलर थे। उन्होंने एक रोज़ मुझसे कहा कि तुम कहानी क्यों नहीं लिखते हो। मैंने चुनांचे पाँच दिन में चार कहानियाँ लिखीं। मुकर्जी साहब ने मुझसे कहा कि मुझे सुनाओ। मैंने साफ़ इंकार कर दिया और चारों कहानियाँ अपने भाँजे मसूद परवेज़ को भेज दी जो शालीमार स्टूडियो में मुलाजिम था।

पहली कहानी ‘कण्टो्लिस्तान’ थी। मुझे चौथे रोज़ मसूद का तार मिला कि तुम्हारी यह कहानी बहुत पसन्द की गयी है। बेहतर है कि तुम पूना चले आओ ताकि अहमद साहब से जुमला मामलात तय हो जायें।

मैं पूना गया। अब यह एक लम्बी हिकायत है कि मैं वहाँ किस तरह पहुँचा। मैंने शालीमार स्टूडियो में क्या कुछ देखा। सिर्फ़ एक दिलचस्प बात बताए देता हूँ कि सबसे पहले मैं उस स्टूडियो की मूत्री (पेशाब खाने) में गया। क्योंकि यह ऐसी जगह जहाँ से मुतअलिक़ा फ़ज़ा के अक्सर-ओ-बेश्तर हालात मालूम हो जाया करते हैं।

मैं जब अन्दर दाख़िल हुआ तो सामने दीवार पर उर्दू ज़बान में जुमला लिखा था। “और तो सब ठीक है पर यहाँ पगार (तनख़्वाह) नहीं मिलती।” मैं बड़ा बद-दिल हुआ...मैंने सोचा कि वापस चला जाऊँ। लेकिन मसूद ने मजबूर किया कि अहमद से मिल लूँ। शाम को उससे मुलाक़ात हुई। वह दफ़्तर में...यह बड़ा सिगार सुलगाये अपनी कुर्सी पर बैठा था। एक तरफ़ शाहिदा थी, दूसरी तरफ़ जोश मलीहाबादी।

जोश से अलैक-सलैक हुई। उनके पास अन खुला रम का अद्धा था जो ग़ालबन अहमद ने एहतरामन मँगवा कर दिया था। अहमद से मैंने पंजाबी में गुफ़्तगू शुरू की। लेकिन फ़ौरन मुझे एहसास हुआ कि पास ‘जोश’ और ‘शाहिदा’ बैठे हैं जो यह ज़बान नहीं समझते। इसलिए मैंने उर्दू में बातचीत शुरू कर दी।

मैंने जब उसे प्रभात फ़िल्म कम्पनी में देखा था तो वह तर-ओ-ताज़ा नौजवान था। पर

अब उसमें बड़ी तब्दीलियाँ पैदा हो गयी थीं। ऐसा लगता था कि वह लू चलने के बायस झुलस-सा गया है।

उसने अपने मख़सूस रस्मी अंदाज़ में मुझसे मुसाफ़हा किया था और शाहिबा उर्फ़ पुर असरार नीना से भी मुताआरिफ़ किया था। वह उस वक़्त वहीं दफ़्तर में मौजूद था।

उसकी शक्ल-ओ-सूरत में कोई ऐसी बात नहीं थी जिसमें कोई असरार पोशीदा हो। मामूली ख़द-ओ-ख़ाल की औरत थी। मैंने जब उसे पहली मरतबा अहमद के दफ़्तर में देखा तो ऐसा महसूस हुआ कि वह आबी रंगों की ऐसी तस्वीर है जो बारिश में छत टपकने के बायस अपने रंग खो चुकी है।

उसमें ऐक्ट्रेसों की ऐक्टर्सिय्यत नहीं थी। ख़ामोश एक कुर्सी पर बैठी थी। उसको मालूम हो गया था कि मैं कौन हूँ। वह यह भी जान गयी थी कि मैं उसके शौहर मोहसिन अब्दुल्लाह को अच्छी तरह जानता हूँ।

थोड़ी देर 'जोश' मलीहाबादी से गुफ़्तगू होती रही। वह अपना शाम का कोटा यानी रम का अद्धा हाथ में थामे बैठे थे और अहमद मशहूर जर्मन फ़िल्म डायरेक्टर की नक़ल उतार रहा था। मेरा मतलब है कि एक लम्बा सिगार होंटों में दबाये बैठा था।

मैं वहाँ अपनी एक कहानी बेचने के सिलसिले में गया था। उसके मुताल्लिक़ उस दिन कोई बात न हो सकी। इसलिए कि मैंने पुरअसरार नीना को देख लिया था।

फ़िल्मिस्तान में मैंने मोहसिन अब्दुल्लाह को भी मुलाज़िम रखवाया था। उसकी हालत बहुत पतली थी। एक दिन मैंने प्रोडक्शन कण्ट्रोलर मिस्टर मुकर्जी से कहा कि वह बम्बई टॉकीज़ के ज़माने में उसका दोस्त रह चुका है। उसको शर्म आनी चाहिए कि वह ग़रीब कस्मपुर्सी की हालत में ज़िन्दगी बसर कर रहा है।

मुकर्जी ने दूसरे रोज़ ही उसे बुलाया। आपस में दोस्ताना गुफ़्तगू हुई। इसके बाद मुकर्जी ने दोस्ताना तौर पर उससे कहा कि वह फ़िल्मिस्तान में क्यों नहीं आ जाता। वह राज़ी हो गया। उसकी तनख़्वाह चार सौ रुपये माहवार मुकर्रर हो गयी।

मोहसिन अब्दुल्लाह बड़ा कामचोर है। उसको काम करने की आदत ही नहीं है। मेरा ख़याल है कि वह चाहता है कि दूसरा उसके लिए कमाए और वह खाये।

उन दिनों "आठ दिन" बन रहा था। जिसकी कहानी मेरी लिखी हुई थी। उसका मंज़र नामा मैं जब लिखने लगा तो मोहसिन ने मुझपर बड़े एहसान किए। मुझे कई मशविरे दिये जो फ़िल्मी नुक्ता-ए-नज़र से बिलकुल ग़लत थे। मैंने उनको नज़रअन्दाज़ कर दिया।

उस दौरान में वह मुझे बता चुका था कि उसको शाहिदा की मुहब्बत अब भी सताती है। हालाँकि मैं जानता था कि वह एक लड़की से जो औरत बन चुकी थी, जिसका नाम वीरा था और जिसे हमने "आठ दिन" की हीरोइन मुन्तख़िब किया था, अपना टाँका मिला रहा है।

शुरू-शुरू में वह सैकण्ड क्लास में सफ़र किया करता था। बर्क़ी ट्रेन में तीन दर्जे होते हैं थर्ड, सैकण्ड ओर फर्स्ट, फ़िल्मिस्तान शहर से काफ़ी दूर था। ग़ालबन उन्नीस मील। यह मुसाफ़त तय करने में कम-अज़-कम पौन घण्टा लगता था। लेकिन जब राय बहादुर चूनी लाल ने फ़िल्म "आठ दिन" के लिए 'वीरा' के साथ कान्ट्रैक्ट किया तो उसने फ़र्स्ट क्लास में

आना-जाना शुरू कर दिया।

मेरा ख़याल है कि अब इस सिलसिला-ए-ख़याल को यहीं बन्द कर देना चाहिए और असल मौजू की तरफ़ आना चाहिए।

मैं 'अहमद' के दफ़्तर में बैठा एक अबुल हौल को देख रहा था। उसके साथ पुरअसरार नीना बैठी थी। लेकिन मेरे नज़दीक उन दोनों में कोई पुरानी "मिस्रियत" नहीं थी।

यूँ तो वह पुरअसरार नीना मेरे लिए बिलकुल अजनबी और नयी थी, लेकिन इसके बावजूद मैं यह समझता था कि मैं उसको पैदायश से जानता हूँ जैसा कि मैं इससे पेश्तर अर्ज़ कर चुका हूँ। वह बड़ी घरेलू क़िस्म की औरत है या दिखायी देती है।

मेरे दिल-ओ-दिमाग़ में बेशुमार ख़यालात थे। इसलिए कि मैं मोहसिन अब्दुल्लाह का दोस्त बन गया था, उसने मुझसे अपनी ज़िन्दगी के वाक़यात कुछ इस अन्दाज़ में बताए थे कि मैं एक सादा लौह होने की वजह से मुतासिर हुआ था। उसने मुझसे कहा था उसकी बीवी शाहिदा को उससे बतदरीज छीना गया है। लेकिन मुझे हैरत होती है कि एक ख़ाविन्द से उसकी मौजूदगी में बतदरीज था ना तदरीज कैसे छीना जा सकता है।

असल में वह उससे ग़ाफ़िल था और स्नेह प्रभा प्रधान के इश्क़ में मुबतिला था। इसके अलावा उसको जुए बाज़ी का भी शौक़ था। फ्लश खेलता और अक्सर हारता।

उसको अपनी बीवी से हमेशा यह गिला रहता कि वह उसकी बहिनों की तरह आज़ाद नहीं है। वह ग़रीब फ़िल्मी माहौल से क़तअन आशना होना नहीं चाहती थी। दिल-ही-दिल में कुढ़ती थी कि उसका ख़ाविन्द जो फ़िल्म लेबॉट्री में काम करता है क्यों उसे मजबूर कर रहा है कि वह फ़िल्म एक्ट्रेस बन जाये।

इसमें कोई शक नहीं कि शाहिदा एक ऊँचे रौशन ख़याल और बेबाक ख़ानदान की फ़र्द थी। लेकिन इसके बावजूद उसमें हिसाब बदर्जा-ए-अतम मौजूद था। उसने शुरू-शुरू में अपने ख़ाविन्द मोहसिन अब्दुल्लाह से यह शिकायत की कि वह क्यों एक एक्ट्रेस से इश्क़ लड़ा रहा है। क्यों खेलता है और बेकार रुपया ज़ाया करता है। मगर मोहसिन अब्दुल्लाह ने अपनी बीवी की कोई बात न सुनी।

डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद उनके घर बदस्तूर आता रहा। वह उसका इतना एहतराम करता था कि वह समझती थी कि वह उस एहतराम के क़ाबिल नहीं। उसको आहिस्ता-आहिस्ता यह महसूस होने लगा कि अहमद जिसके साथ डब्ल्यू.ज़ेड. चिपका हुआ है कोई ऐसा मर्द है जो मोहसिन के मुक़ाबले में उस पर ज़्यादा जिन्सी एहसान कर सकता है।

मोहसिन मिस प्रधान के चक्कर में पड़ा था। मैं आप को यहाँ बता दूँ कि मिस प्रधान बड़ी कब्ज़ागीर क़िस्म की औरत है और मोहसिन जो अपनी बीवी को क़रीब-क़रीब छोड़ चुका था। उसके पेश-ए-नज़र वह उसके बारे में क्या राय क़ायम कर सकती थी? ज़ाहिर है कि उनके रोमान का अंज़ाम नाकाम रहा।

माफ कीजिएगा कि मैं बहक गया। और बातों-ही-बातों में ख़ुदा मालूम कहाँ पहुँच गया। वैसे आपसे अर्ज़ यह करना था कि अहमद के दफ़्तर में जब नीना से मेरी मुलाक़ात हुई तो मैं हस्ब-ए-मामूल पिये था और जब मैं पिये होता हूँ तो मुझे तलल्लुफ़ बरतना नहीं आता।

चुनांचे मैंने पुरअसरार नीना से कहा कि आपका असरार तो मैं नहीं जानता। इसलिए कि वह डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद के पास महफ़ूज़ है लेकिन मैं इतना जानता हूँ कि आपने अपने शौहर के साथ धोखा किया है।

यह सुन कर डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद ने मेरी तरफ़ देखा और यह माज़रत करके कि उसे किसी से बाहर मिलना है चला गया और साथ जोश मलीहाबादी को भी ले गया। ऐसे मामलों में डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद का कोई जवाब नहीं। वह हर रम्ज़ और हर कनाया पहचानता है। यही वजह है कि वह अपनी पंज साला स्कीम के मातहत नीना को हासिल करने में क़ामयाब हो गया जिसको उसने पुरअसरार बना दिया। असल में असरार सारा अहमद का है जिसने उसे एक लोटन कबूतरी बना कर रख दिया है जो सिर्फ़ उसी के घर में अण्डे देती है।

एक अण्डा उसने मोहसिन के घर में भी दिया था। जिसका चुज़ा सेहतमन्द नहीं था। डब्ल्यू.ज़ेड. अहमद की कारीगरी है या आप उसे कोई और नाम दे दीजिए कि वह अब तक उसे पालता पोसता है।

मैंने अहमद के चले जाने के बाद नीना से सिलसिला-ए-गुफ़्तगू का आग़ाज़ किया। मैंने उसे कहा कि वह तुम्हारी याद में अक्सर आँसू बहाता है। यह सुन कर उसके मुरझाए हुए होंटों पर एक अजीब-सी तनज़िया मुस्कराहट नमूदार हुई। “मंटो साहब आप उस शख़्स को नहीं जानते उसका हर आँसू अंग्रेज़ी के मुहावरे के मुताबिक़ मगरमच्छ का आँसू होता है। वह आँसू नहीं बहाता बल्कि आँसू उसको बहाते हैं।”

यह जुमला मेरी समझ में न आया। बहरहाल शाहिदा उर्फ़ पुरअसरार नीना की बेअसरार संजीदगी यह ज़ाहिर किये देती थी कि जो कुछ उसने कहा है उसमें दराग़ की गुंजाइश नहीं हो सकती। उन दिनों “मीराबाई” की तैयारियाँ हो रही थीं। इसके अलावा “कृष्ण भगवान” के लिए अहमद ने हस्ब-ए-दस्तूर अपनी पंजसाला स्कीम के मातहत भारत भूषण को कृष्ण भगवान का पार्ट अदा करने के लिए ज़ेर-ए-मुआहदा कर रखा था।

भारत भूषण को हर रोज़ बाकायदगी के साथ मक्खन और दूसरी ताक़तवर गिज़ाएँ खिलाई जाती थीं कि वह बहुत दुबला था और इस क़ाबिल नहीं था कि मक्खन चोर बन सके।

भारत भूषण को मक्खन खिलाने के साथ-साथ अहमद शाहिदा के असरार में इज़ाफ़ा करता गया। जो उसके प्रोग्राम के ऐन मुताबिक़ था।

अब मैं अहमद की सुनहरे जलवे की ब्याही बीवी की तरफ़ आता हूँ। जिसका नाम सफ़िया है। गुलाम हुसैन हिदायत उल्लाह (मरहूम) वज़ीर-ए-आज़म सिन्ध की दुख़्तर-ए-नेक अख़्तर।

जाहिर है कि जब ख़ाविन्द किसी दूसरी औरत के साथ मसरूफ़ होगा तो उसकी अपनी औरत जो रौशन ख़याल और आज़ाद हो यक़ीनन किसी-न-किसी से राब्ता पैदा कर लेगी। चुनांचे यही हुआ। मशहूर कम्यूनिस्ट लीडर सिब्त-ए-हसन से उसका मुआशका हो गया।

मुझे उस रोमान के मुताल्लिक़ पूरी मालूमात हासिल नहीं थीं। इसलिए मैंने सिब्त-ए-हसन से यहाँ लाहौर में कई मुलाक़ातें की। लेकिन उससे खुलकर बात न कर सका। हर रोज़

यही सोचता कि दूसरे रोज़ जब वह आयेगा या जब मैं उससे मिलूँगा तो अहमद की बीवी के बारे में दरयाफ़्त करूँगा कि यह सिलसिला कैसे हुआ। क्योंकि मैंने सुना था कि सफिया जो काफ़ी पढ़ी-लिखी औरत है अमरीका किसी इल्मी कान्फ्रेंस में शिरक़त की ग़रज़ से गयी और सिब्त-ए-हसन भी उसके पीछे-पीछे गया। और उन दोनों की शादी हो गयी।

मैं यह मज़मून ज़रूर मुकम्मल करता जो किसी लिहाज़ से भी तिश्ना न रहता, लेकिन अचानक हुकूमत की मशीनरी हरक़त में आयी और सिब्त-ए-हसन गिरफ़्तार कर लिये गये। इसलिए कि वे कम्यूनिस्ट हैं।

गिरफ़्तारी से पहले एक शाम जब उनसे मुलाक़ात हुई, तो वह अपने पाइप में जहाँ का गर्द भरा तम्बाकू पी रहे थे। मेरी यह ख़्वाहिश थी कि उनसे कुरेद-कुरेद कर 'अहमद' की साबक़ा बीवी 'सफ़िया' के मुतालिक़ पूछूँ कि उससे उनका मुआशका कैसे हुआ। अब वह कहाँ है। सिब्त-ए-हसन तीन बरस जेल में रहने के बाद आये थे।

अहमद और सिब्त-ए-हसन में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। अहमद सियासी आदमी है, सिब्त-ए-हसन उसके बरअक्स जज़्बाती। उसको पंजसाला स्कीमें पसन्द नहीं। वह चाहता है कि जो काम हो "फटाफ़ट हो..."

यूँ देखने में बड़े तीखे हैं वह। लेकिन अन्दरूनी तौर पर बहुत मुलायम।

गिरफ़्तारी से चन्द रोज़ पहले वह मेरे यहाँ तशरीफ़ लाये। मुसीबत यह थी कि मेरे और कई मुलाक़ाती मौजूद थे। उनकी मौजूदगी में सिब्त-ए-हसन से खुलकर बातें नहीं कर सकता था। बातों-बातों में उनसे मैंने पूछा...।

"कहिए आप अब कब जेल जायेंगे?"

सिब्त-ए-हसन ने एक पाइप का कश लगाया और मुस्कराकर कहा...

"चन्द दिनों में।"

और वाक़ई वह पन्द्रह-बीस रोज़ के बाद जेल में दाख़िल कर दिये गये और मेरा यह मज़मून ना मुकम्मल रह गया।

मैं कहाँ से कहाँ पहुँच गया। लेकिन क्या करूँ, यह मौज़ूँ ही ऐसा है, जो हज़ार पहलू है।

शाहिदा (नीना) के शौहर मोहसिन अब्दुल्लाह एक बड़ी ख़तरनाक लड़की स्नेह प्रभा प्रधान से इश्क़ फ़रमा रहे थे। उन की बीवी पर अहमद साहब बड़े सलीके से अपनी स्कीम के मातहत आहिस्ता-आहिस्ता डोरे डाल रहे थे।

इधर-उधर और बहुत कुछ हो रहा था। कोई मिसेज़ नूरानी थीं। उनके साथ एक पंजाबी लौण्डा इश्क़ लड़ा रहा था। यह मिसेज़ नूरानी, अहमद की रिश्तेदार थीं, या मिस्टर नूरानी की...बहरहाल कहना यह है कि मैंने कई मरतबा उसको उन के घर में जो फोरजेट स्ट्रीट पर था, देखा।

वह पंजाबी लौण्डा भी अजीब-ओ-ग़रीब था, मालूम नहीं उसे कोई आरज़ा था, लेकिन ज़ाहिर वह यही करता कि उस को दिल के दौरे पड़ते हैं।

मिस्टर नूरानी ख़ामोश कुर्सी पर सिगार सुलगाये बैठे रहते और उनकी बेगम पंजाबी नौजवान को अपने हाथ से खाना खिलाती रहती। कभी-कभी बौस-ओ-कनार भी हो जाता

मगर मिस्टर नूरानी के सिगार की राख वैसी की वैसी उस पर साबित-ओ-सालिम रही।

अजीब सिलसिला था कि मोहसिन अब्दुल्लाह स्नेह प्रभा प्रधान के इश्क़ के चक्कर में थे। उनकी बीवी पर अहमद अपना सिक्का जमा रहे थे। उधर अहमद की बीवी सफ़िया, सिब्त-ए-हसन से रोमान लड़ा रही थी और उनके जानने पहचानने वालों में भी इसी क़िस्म का सिलसिला जारी था।

मैंने जब यह सब कुछ देखा तो बख़ुद चकरा गया कि यह हो क्या रहा है। मियाँ यहाँ बैठे हैं और उनकी बीवी किसी ग़ैर मर्द से चूमा-चाटी कर रही है। एक शौहर अपनी सुनहरे जलवे की ब्याही बीवी को छोड़ कर किसी ऐक्ट्रेस के पीछे मारा-मारा फिर रहा है।

मेरा ख़याल है दुनिया में ऐसे वाक़यात की कमी नहीं। औरत और मर्द हमेशा ऐसे ही सिलसिले करते आये हैं।

एक बात यह भी है कि अगर कोई मर्द अपनी बीवी से बेएतनायी बरते और किसी और औरत के इश्क़ में गिरफ़्तार हो जाय तो उसका नतीजा ज़ाहिर है। हज़ारों में सिर्फ़ चन्द औरतें ऐसी निकलेंगी जो किसी और मर्द से नाता न जोड़ें। पूना में अहमद और नीना (शाहिदा) इकट्ठे रहते थे। एक बँगला था। बहुत अच्छा लेकिन अहमद उसमें कभी-कभार आता। बेगम साहिबा की मिज़ाज पुर्सी करता और चला जाता। आहिस्ता-आहिस्ता उसने वहाँ मुस्तक़िल तौर पर क़याम कर लिया। अब वे दोनों एक साथ सुबह को नाश्ता करते, दोपहर को लंच खाते और रात को डिनर पर भी एक साथ होते।

स्टूडियो में तो ख़ैर उनका एक-एक लम्हा एक-दूसरे के साथ गुज़रता। अजीब बात है कि उस दौरान में अहमद ने कोई ऐसी हरकत नहीं की जिससे यह ज़ाहिर हो कि वह शाहिदा को अपने क़ब्ज़े में लाना चाहता है।

शाहिदा के ख़ाविन्द मोहसिन अब्दुल्लाह को तो अहमद अपनी हिकमत-ए-अमली के ज़रिये से अपने स्टूडियो से यूँ निकाल चुका था जैसे मक्खन से बाल। वह बम्बई में सड़कों पर पैदल चलता था। एक ज़माना वह भी था कि वह अपनी बीवी की वजह से पूना से बम्बई कार में आया था। पर अब उसे कोई लिफ़्ट देने वाला नहीं था।

मैं एक रोज़ टैक्सी पर लेमिंगटन रोड से गुज़र रहा था कि मोहसिन मुझे नज़र आया। मैंने टैक्सी रुकवाई और उसकी ख़ैर खैरियत पूछी।

"सुनाइए मोहसिन साहब। आप कहाँ होते हैं आजकल?"

उसके चौड़े-चकले चेहरे पर मुस्कराहट...अजीब किस्म की मुस्कराहट पैदा हुई, "आजकल मेरा काम सड़कें नापना है।"

मैंने अज़ राह-ए-मज़ाक़ उससे पूछा, "लैमिंगटन रोड की लम्बाई और चौड़ाई कितनी है।"

उसने भी मेरे ही अन्दाज़ में जवाब दिया, "आप जितनी लम्बी...मुझ ऐसी चौड़ी।"

मैंने उससे कहा, "कि आओ, टैक्सी में बैठ जाओ। जहाँ तुम्हें जाना है वहीं छोड़ दूँगा। मगर उसने मेरी यह दावत कुबूल न की। मुझे ऐसा महसूस हुआ कि वह बहुत मुज़तरिब था।"

और उस इज़तिराब की वजूह कई थीं। एक तो यह कि वह अपनी बीवी को क़रीब-क़रीब खो चुका था। स्नेह प्रभा प्रधान उससे सख़्त बेएतनायी बरत रही थी। इसके अलावा वह जुए में अपनी सारी पूँजी हार चुका था और कोई मुलाज़मत भी नहीं थी, जिसका आसरा होता।

मैंने उससे पूछा, “सुनाओ यार, मिस प्रधान का क्या हाल है?”

उसने ज़हर ख़न्द के साथ जवाब दिया, “ठीक-ठाक है। अब उससे ख़्वाजा अहमद अब्बास इश्क़ लड़ा रहा है।”

‘मोहसिन’ ने मुस्करा कर कहा, “दो-तीन महीनों में अन्दर-अन्दर गंजा हो जायेगा।”

मैंने पूछा, “क्यों?”

उसने जवाब दिया, “उस औरत को आप नहीं जानते, वह औरत नहीं सेफ़्टी रेज़र है और वह भी ऐसा कि उसके मुंड़े हुए बाल फिर कभी नहीं उगते।” मेरे जिस्म पर बेशुमार बाल हैं। मैंने सोचा अगर यह सेफ़्टी रेज़र मेरे हाथ आ जाये तो मैं कितनी जल्दी उस लानत से निजात पा जाऊँ। मगर ख़ुदा का शुक्र है कि मैंने कोशिश न की। वरना मेरा भी हश्र वही होता जो मोहसिन अब्दुल्लाह और ख़्वाजा अहमद अब्बास का हुआ। ख़्वाजा गंजा हो गया और मोहसिन के बाल भी झड़ने लगे।

मुद्दत के बाद जब मैं फ़िल्मिस्तान में बहैसियत अफ़सानानिगार और मंजर नवीस मुलाज़िम हुआ तो ‘मोहसिन’ से मेरी मुलाक़ात हुई। उसकी हालत बहुत दर्दनाक थी। मुझे मालूम था कि मिस्टर एस. मुकर्जी का दोस्त है। इसलिए कि वे दोनों बम्बे टॉकीज़ में एक साथ काम कर चुके थे और वहाँ का माहौल बहुत दोस्ताना था।

अहमद बम्बे टॉकीज़ से कभी वाबस्ता नहीं रहा। वह सिर्फ़ साधना बोस के साथ एक-दो बरस रहा। मालूम नहीं, उसके साथ उसके क्या तालुक़ात थे। बहरहाल वहाँ से निकलकर उसने अपनी ज़ाती फ़िल्म कम्पनी क़ायम की और उसका करता-धरता बन गया।

मैं इससे पेश्तर इस मज़मून की पहली किस्त में कह चुका हूँ कि अहमद बहुत सियाना और ज़हीन आदमी है। उसने बड़े-बड़े मारवाड़ियों को गच्चा दिया। कुछ ऐसे तौर पर कि उनको ख़बर तक न हुई।

परी चेहरा नसीम बानो

मेरा फ़िल्म देखने का शौक़ अमृतसर ही में ख़त्म हो चुका था। इस क़दर फ़िल्म देखते थे कि अब उनमें मेरे लिए कोई कशिश ही न रही थी। चुनांचे यही वजह है कि जब मैं हफ्तावार “मुसव्विर” को एडिट करने के सिलसिले में बम्बई पहुँचा तो महीनों किसी सिनेमा का रुख़ न किया। पर्चा फ़िल्मी था। हर फ़िल्म का पास मिल सकता था। मगर तबीयत उधर राग़िब ही न थी।

बम्बे टॉकीज़ का एक फ़िल्म “अछूत कन्या” उन दिनों एक सिनेमा में हफ़्तों से चल रहा था। जब उस की नुमाइश का बाइसवाँ हफ़्ता शुरू हुआ तो मैंने सोचा इस फ़िल्म में क्या है जो इतनी देर से चल रहा है। देखना चाहिए।

बम्बई में यह मेरा पहला फ़िल्म था। मैंने उसमें पहली मर्तबा अशोक कुमार और देविका रानी को देखा। अशोक कुमार का ऐक्टिंग ख़ाम था। मगर देविका रानी का काम बहुत मँझा हुआ था। फ़िल्म मजमूयी तौर पर क़ामयाब था। एक ख़ास बात जो मैंने नोट की यह थी कि उसमें सूफ़ियानापन नहीं था। एक सीधी सादी कहानी थी, जो बड़े साफ़ सुथरे अन्दाज़ में पेश की गयी थी। मैंने अब गाहे-बगाहे फ़िल्म देखने शुरू कर दिये।

उन दिनों एक्ट्रेसों में एक एक्ट्रेस नसीम बानो ख़ास मशहूर थी। उसकी ख़ूबसूरती का बहुत चर्चा था। इश्तिहारों में उसे परी चेहरा नसीम कहा जाता था। मैंने अपने ही अख़बार में उसके कई फोटो देखे थे। खुश शक्ल थी। जवान थी। ख़ास तौर पर आँखें बड़ी पुरकशिश थीं और जब आँखें पुरकशिश हों तो सारा चेहरा पुरकशिश बन जाता है।

नसीम के ग़ालिबन दो फ़िल्म तैयार हो चुके थे। जो सोहराब मोदी ने बनाए थे और अवाम में काफी मक़बूल हुए थे। यह फ़िल्म मैं नहीं देख सका। मालूम नहीं क्यों? अर्सा गुज़र गया। अब मिनरवा मूवी टोन की तरफ़ से उसके शानदार तारीख़ी फ़िल्में “पुकार” का इश्तिहार बड़े ज़ोरों पर हो रहा था। परी चेहरा नसीम उसमें नूरजहाँ के रूप में पेश की जा रही थी और सोहराब मोदी ख़ुद उसमें एक बड़ा अहम किरदार अदा कर रहे थे।

फ़िल्म की तैयारी में काफी वक़्त सर्फ़ हुआ। उस दौरान में अख़बारों और रिसालों में जो “स्टल” शाया हुए बड़े शानदार थे। नसीम, नूरजहाँ के लिबास-ए-फ़ाख़रा में बड़ी पुर वक़ार दिखायी देती थी।

“पुकार” की नुमाइश-ए-अज़्मा पर मैं मदअऊ था। जहाँगीर के अदल-ओ-इंसाफ़ का एक मन-गढ़न्त क़िस्सा था, जो बड़े जज़्बाती और थिएटरी अन्दाज़ में पेश किया गया था। फ़िल्म में दो बातों पर बहुत ज़ोर था। मुकालमों पर और मल्बूसात पर। मुकालमे गो ग़ैर फितरी और थिएटरी थे, लेकिन बहुत ज़ोरदार और पुर-शिकोह थे। जो सुनने वालों पर असर अन्दाज़ होते थे। चूँकि ऐसा फ़िल्म उससे पहले नहीं बना था। इसलिए सोहराब मोदी का

'पुकार' सोने की ख़ान साबित होने के अलावा हिन्दोस्तानी सनअत फ़िल्म साज़ी में एक इंक़लाब पैदा करने का मोजिब हुआ।

नसीम की अदाकारी कमज़ोर थी। लेकिन उस कमज़ोरी को उसके ख़ुदा दाद हुस्न और नूरजहाँ के लिबास ने जो उसपर ख़ूब सजता था अपने अन्दर छिपा लिया था। मुझे याद नहीं रहा, ख़याल है कि 'पुकार' के बाद नसीम ग़ालिबन दो-तीन फ़िल्मों में पेश हुई। मगर यह फ़िल्म कामयाबी के लिहाज़ से 'पुकार' का मुक़ाबला न कर सके।

उस दौरान में नसीम के मुताल्लिक़ तरह-तरह की अफ़वाहें फैल रही थीं। फ़िल्मी दुनिया में स्कैण्डल आम होते हैं। कभी यह सुनने में आता था कि सोहराब मोदी नसीम बानो से शादी करने वाला है। कभी अख़बारों में यह ख़बर शाया होती थी कि निज़ाम हैदराबाद के साहबजादे मुअज़्ज़म जाह साहब नसीम बानो पर डोरे डाल रहे हैं और अनक़रीब उसे ले उड़ेंगे। यह ख़बर दुरुस्त थी। क्योंकि शहज़ादे का क़याम उन दिनों अक्सर बम्बई में होता था और वह कई बार नसीम के मकान वाक़अ मैरिन ड्राइव पर देखे गये थे।

शहज़ादे ने लाखों रुपये ख़र्च किए। बाद में हुस्न का हिसाब देने के सिलसिले में उन्हें बड़ी उलझनों का सामना करना पड़ा। लेकिन यह बाद की बात थी। आप रुपये के ज़ोर से नसीम की वालिदा शमशाद उर्फ़ छमियाँ को रज़ामन्द करने में कामयाब हो गये। चुनांचे परी चेहरा नसीम का इलतफ़ात ख़रीद कर आप उसे उस की वालिदा समेत हैदराबाद ले गये...।

थोड़े ही अर्से के बाद जहाँदीदा छमियाँ ने यह महसूस किया कि हैदराबाद एक क़ैदख़ाना है जिसमें उसकी बच्ची का दम घुट रहा है। आराम-ओ-आसाइश के तमाम सामान मौजूद थे। मगर फ़ज़ा में घुटन-सी थी। फिर क्या पता था कि शहज़ादे की ला-उबाली तबीयत में एकाएकी इंक़लाब आ जाता और नसीम बानो इधर की रहती न उधर की। चुनांचे छमियाँ ने हिकमत-ए-अमली से काम लिया। हैदराबाद से निकलना बहुत मुश्किल था। मगर वह अपनी बच्ची नसीम के साथ वापस बम्बई आने में क़ामयाब हो गयी।

उसकी आमद पर काफ़ी शोर मचा। बड़ी पोस्टरबाज़ी हुई। दो पार्टियाँ बन गयी थीं। एक शहज़ादा मुअज़्ज़म जाह के कासालेसों की दूसरी नसीम बानो के हमदर्दों की। बहुत देर तक कीचड़ उछाली गयी। उसके बाद यह मामला ख़ामोश हो गया।

मैं अब फ़िल्म दुनिया में दाख़िल हो चुका था। कुछ देर 'मुंशी' की हैसियत से इम्पीरियल फ़िल्म कम्पनी में काम किया। यानी डायरेक्टरों के हुक्म के मुताबिक़ उल्टी-सीधी ज़बान में फ़िल्मों के मुकालमे लिखता रहा, साठ रुपये माहवार पर तरक़्क़ी की तो हिन्दोस्तान सिनेटोन में सेठ नानू भाई डेसाई के यहाँ सौ रुपये माहवार पर मुलाज़िम हो गया। यहाँ मैंने अपनी पहली फ़िल्मी कहानी 'मड' के उन्वान से लिखी। उसका उर्फ़ "अपनी नगरिया" था। कहना यह है कि फ़िल्मी हल्के अब मेरे नाम से वाक़िफ़ हो चुके थे।

उस दौरान मैं एक एलान नज़रों से गुज़रा कि कोई साहब एहसान हैं। उन्होंने एक फ़िल्म कम्पनी ताजमहल पिक्चर्ज़ के नाम से क़ायम की है। पहला फ़िल्म "उजाला" होगा जिसकी हीरोइन परी चेहरा नसीम बानो है।

उस फ़िल्म के बनाने वालों में दो मशहूर हस्तियाँ थीं। "पुकार" का मुसन्निफ़ कमाल

अमरोही और पुकार ही का पब्लिसिटी मैनेजर एम.ए. मुग्नी। फ़िल्म की तैयारी के दौरान में कई झगड़े खड़े हुए। अमीर हैदर कमाल अमरोही और एम.ए. मुग्नी की कई बार आपस में चख़ हुई। ये दोनों हज़रात ग़ालिबन अदालत तक भी पहुँचे। मगर "उजाला" अंजाम कार मुकम्मल हो ही गया।

कहानी मामूली थी। मौसीक़ी कमज़ोर थी। डायरेक्शन में कोई दम नहीं था। चुनांचे यह फ़िल्म क़ामयाब न हुआ और एहसान साहब को काफ़ी ख़सारा उठाना पड़ा। नतीजा यह हुआ कि उनको अपना कारोबार बन्द करना पड़ा।

मगर उस कारोबार में वह अपना दिल नसीम बानो को दे बैठे। एहसान साहब के लिए नसीम अजनबी नहीं थी। उनके वालिद ख़ान बहादुर मुहम्मद सुलेमान चीफ़ इंजीनियर नसीम की वालिदा उर्फ छमियाँ के परस्तार थे। बल्कि यूँ कहिए कि एक लिहाज़ से वह उनकी दूसरी बीवी थी। एहसान साहब को यक़ीनन नसीम से मिलने का इत्तफ़ाक़ हुआ होगा। फ़िल्म की तैयारी के दौरान में तो ख़ैर वह नसीम के बिलकुल क़रीब रहे थे। लेकिन लोगों का बयान है कि एहसान अपनी झेंपू और शर्मीली तबीयत के बायस नसीम से पूरी तरह खुल नहीं सकते थे। सीट पर आते तो ख़ामोश एक कोने में बैठे रहते। नसीम से बहुत कम बात करते। कुछ भी हो आप अपने मक़सद में क़ामयाब हो गये। क्योंकि एक दिन हमने सुना कि परी चेहरा नसीम ने मिस्टर एहसान से दिल्ली में शादी कर ली है और यह इरादा ज़ाहिर किया है कि वह अब फ़िल्मों के काम नहीं करेगी।

नसीम बानो के परस्तारों के लिए यह ख़बर बड़ी अफ़सोसनाक थी। उसके हुस्न का जलवा क्योंकि सिर्फ़ एक आदमी के लिए वक़्फ हो गया था।

एहसान और नसीम का इश्क़ तमाम मराहिल तय करके शादी की मंज़िल तक कैसे पहुँचा। मुझे इसका इल्म नहीं, लेकिन इस सिलसिले में अशोक कुमार का बयान बहुत दिलचस्प है। अशोक एक साहब कैप्टन सिद्दीकी का दोस्त था। यह मिस्टर एहसान के क़रीबी अज़ीज़ थे। "उजाला" में उन्होंने काफ़ी रुपया लगाया था।

अशोक क़रीब-क़रीब हर रोज़ कैप्टन सिद्दीकी के यहाँ जाया करता था। कुछ दिनों से वह महसूस कर रहा था कि कैप्टन साहब के घर की फ़ज़ा बदली हुई है। शुरू-शुरू में तो वह कुछ समझ न सका, लेकिन एक दिन उसकी नाक ने महसूस किया कि हवा में बहुत ही उम्दा सेंट की खुशबू बसी हुई है। अशोक ने अज़ राह-ए-मज़ाक़ कैप्टन सिद्दीकी से उस खुशबू के माख़ज़ के बारे में पूछा, लेकिन वह गोल कर गये।

एक दिन जब अशोक, सिद्दीकी साहब के घर गया तो वह मौजूद नहीं थे, लेकिन वह खुशबू मौजूद थी। बड़ी लतीफ़ लेकिन बड़ी शरीर। अशोक ने सूँघ-सूँघ कर नाक के ज़रिये से मालूम कर लिया कि यह ऊपर की मंज़िल से आ रही है। सीढ़ियाँ तय करके वह ऊपर पहुँचा। कमरे के किवाड़ थोड़े से खुले थे। अशोक ने झाँक कर देखा। नसीम बानो पलँग पर लेटी थी और उसके पहलू में एक साहब बैठे उससे हौले-हौले बातें कर रहे थे। अशोक ने पहचान लिया। मिस्टर एहसान थे जिनसे उसका तआरूफ़ हो चुका था।

अशोक ने जब कैप्टन सिद्दीकी से इस मामले में मुताल्लिक़ बात की तो वह मुस्कराए

“यह सिलसिला काफ़ी देर से जारी है।”

अशोक के इस बयान से नसीम और एहसान के उस माशके पर जो रोशनी पड़ती है उस पर किसी तबसिरे की ज़रूरत नहीं। इश्क़-ओ-मुहब्बत में जो कुछ होता है हुआ होगा। मुझे इतना इल्म है कि एहसान की वालिदा और बहनें सख़्त ख़िलाफ़ थीं कि वह नसीम से शादी करे चुनांचे इस सिलसिले में बहुत झगड़े हुए। मगर ख़ान बहादुर मुहम्मद सुलेमान को कोई एतराज नहीं था। इसलिए यह शादी अमल में आ गयी और नसीम फ़िल्मी दुनिया से दूर दिल्ली में रहने लगी। जहाँ उसने अपने बचपन के दिन गुज़ारे थे।

शादी पर और शादी के बाद कुछ देर अख़बारों में हंगामा रहा। मगर फिर नसीम फ़िल्मी हल्कों से ओझल हो गयी।

उस दौरान में फ़िल्मी दुनिया में कई इंक़लाब आये। कई फ़िल्म कम्पनियाँ बनीं, कई टूटीं। कई सितारे उभरे कई डूबे। हिमांशु राय की अफ़सोसनाक मौत के बाद बम्बई टॉकीज़ में तवायफुल मलूकी फैली हुई थी। देविका रानी (मिसेज़ हिमांशु राय) और राय बहादुर चूनी लाल (जनरल मैनेजर) में बात-बात पर चलती थी। नतीजा यह हुआ कि राय बहादुर अपने ग्रुप के साथ बम्बई टॉकीज़ से अलाहिदा हो गये। उस ग्रुप में प्रोड्यूसर एस. मुकर्जी, अफ़सानानिगार और डायरेक्टर ज्ञान मुकर्जी, मशहूर हीरो अशोक कुमार, कवि प्रदीप, साउण्ड रिकार्डिस्ट एस. वाचा, कामेडियन वी.ऐच. डेसाई, मुकालमा-निगार शाहिद लतीफ़ और सन्तोषी शामिल थे।

बम्बई टॉकीज़ से निकलते ही इस ग्रुप ने एक नयी फ़िल्म कम्पनी “फ़िल्मिस्तान” के नाम से क़ायम की। प्रोडक्शन कंट्रोलर एस. मुकर्जी मुक़र्रर हुए। जो सिलवर जुबली फ़िल्म बनाकर बहुत शोहरत हासिल कर चुके थे। कहानी-वहानी लिखी गयी। स्टूडियो नये साज़-ओ-सामान से आरास्ता हो गया। सब ठीक-ठाक था। मगर प्रोड्यूसर एस. मुकर्जी सख़्त परेशान थे। बम्बे टॉकीज़ से अलाहिदा हो कर वह देविका रानी को ख़ार देने के लिए कोई सनसनी फैलाने वाली बात पैदा करना चाहते थे और यह बात हीरोइन के इन्तख़ाब के मुताल्लिक़ थी।”

बैठे-बैठे एक दिन एस. मुकर्जी को यह सूझी कि नसीम बानो को वापस खींचकर लाया जाय। यह वह ज़माना था जब उसे अपने ऊपर पूरा एतमाद था। पे-दर-पे कई कामरानियों के बाद उसको यह महसूस होने लगा था कि वह जिस काम में हाथ डालेगा पूरा कर लेगा। चुनांचे फ़ौरन ही नसीम बानो तक पहुँचने के रास्ते सोच लिये गये।

अशोक की वजह से एस. मुकर्जी के भी कैप्टन सिद्दीकी से बड़े अच्छे ताल्लुकात थे। इसके अलावा राय बहादुर चूनी लाल के एहसान के वालिद ख़ान बहादुर मुहम्मद सुलेमान से बहुत बेतक़ल्लुफ़ मरासिम थे। चुनांचे दिल्ली में नसीम तक रसाई हासिल करने में एस. मुकर्जी को किसी मुश्किल का सामना न करना पड़ा। लेकिन सबसे बड़ा मरहला पहले एहसान को और फिर नसीम को रजामन्द करना था।

मुकर्जी की ख़ुद-एतमादी काम आयी। एहसान ने पहले तो साफ़ जवाब दे दिया। लेकिन आख़िरकार रज़ामन्द हो गया। फतहमन्द हो कर जब वह वापस बम्बई आया तो अख़बारों में

यह ख़बर बड़े ठाठ से शायः कराई कि फ़िल्मिस्तान के पहले फ़िल्म “चल-चल रे नौजवान” की हीरोइन परी चेहरा नसीम बानो होगी। फ़िल्मी हलक़ों में सनसनी फैल गयी। क्योंकि नसीम फ़िल्मी दुनिया से हमेशा के लिए अलाहिदगी इख़्तियार का चुकी थी।

यह उस ज़माने की बात है जब मैं डेढ़ बरस ऑल इण्डिया रेडियों दिल्ली के साथ मुनसलिक रह कर वापस बम्बई आया था और सैय्यद शौकत हुसैन रिज़वी के लिए एक कहानी लिखने में मसरूफ था।

यह कहानी लिखी गयी। चन्द और कहानियाँ भी लिखी गयीं। उस दौरान में घर से निकलना बहुत कम होता था। मेरी बीवी मेरे उस ‘घरेलूपने’ से तंग आ गयी थी। उसका ख़याल था कि मैं यूँ अपनी सेहत ख़राब कर रहा हूँ।

शाहिद लतीफ़ से मेरे मरासिम अलीगढ़ यूनिवर्सिटी से चले आ रहे थे। फ़िल्मिस्तान के कामों से जब भी फ़राग़त मिलती, मेरे यहाँ ज़रूर आता। एक दिन आया तो मेरी बीवी ने उससे कहा...“शाहिद भाई इनसे कहिए कहीं मुलाज़िमत करें। घर बैठ कर इनका काम करना मुझे अच्छा नहीं लगता। सेहत ख़राब कर रहे हैं। कहीं मुलाज़िमत करेंगे तो घर से बाहर तो क़दम रखा करेंगे।”

चन्द रोज़ के बाद ‘मलाड’ से शाहिद लतीफ़ का फ़ोन आया कि प्रोड्यूसर एस. मुकर्जी मुझसे इण्टरव्यू करना चाहते हैं। क्योंकि सिनारयू डिपार्टमेंट के लिए उन्हें एक आदमी की ज़रूरत है।

मुलाज़िमत की मुझे कोई ख़्वाहिश नहीं थी। सिर्फ़ स्टुडियो देखने के लिए मैं फ़िल्मिस्तान चला गया। फ़ज़ा बड़ी अच्छी थी जैसे किसी यूनिवर्सिटी की। उसने मुझे बहुत मुतास्सिर किया। मुकर्जी से मुलाक़ात हुई तो वह मुझे बेहद पसन्द आये। चुनांचे वहीं काण्ट्रेक्ट पर दस्तख़त कर दिये। तनख़्वाह बहुत थोड़ी थी। कुल तीन सौ रुपये माहवार और फ़ासला भी काफ़ी था। इलेक्ट्रिक ट्रेन से एक घण्टा के क़रीब लगता था। गोरेगाँव पहुँचने में। लेकिन मैंने सोचा ठीक है। तनख़्वाह थोड़ी है लेकिन मैं इधर-उधर से कमा लिया करूँगा।

शुरू-शुरू में तो फ़िल्मिस्तान में मेरी हालत अजनबी की-सी थी लेकिन बहुत जल्द मैं तमाम स्टाफ़ के साथ घुलमिल गया। एस. मुकर्जी से तो मेरे ताल्लुक़ात दोस्ताना हद तक पहुँच गये थे।

इस दौरान में नसीम बानो की सिर्फ़ चन्द झलकियाँ देखने का इत्तफ़ाक़ हुआ। चूँकि सिनारयू लिखा जा रहा था। इसलिए वह चन्द लम्हात के लिए मोटर में आती और वापस चली जाती थी।

एस. मुकर्जी बड़ा मुश्किल पसन्द वाक़अ हुआ है। महीनों कहानी की नोक पलक दुरुस्त करने में लग गये। ख़ुदा-ख़ुदा करके फ़िल्म की शूटिंग शुरू हुई। मगर यह वह सीन थे जिनमें नसीम बानो नहीं थी। बिलाख़िर उससे एक रोज़ मुलाक़ात हुई। स्टुडियो के बाहर फ़ोल्डिंग कुर्सी पर बैठी थी। टाँग-पर-टाँग रखे थर्मस से चाय पी रही थी। अशोक ने मेरा उससे तआरूफ़ कराया। खन्दा-पेशाबी से पेश आयी और बड़ी बारीक़ आवाज़ में कहा, “मैंने इनके मज़ामीन और अफ़साने पढ़े हैं।”

थोड़ी देर रस्मी गुफ़्तगू हुई और यह पहली मुलाक़ात ख़त्म हुई। चूँकि वह मेकअप में थी, इसलिए मैं उसके असली हुस्न का अन्दाज़ह न कर सका। एक बात जो मैंने ख़ास तौर पर नोट की, वह यह थी कि बोलते वक़्त उसे कोशिश-सी करनी पड़ती थी। यूँ कहिए कि जब बोलती थी तो मुझे यूँ महसूस होता था कि वह थोड़ी-सी मशक्कत कर रही है।

"पुकार" की नसीम में और "चल-चल रे नौजवान" की नसीम में ज़मीन-ओ-आसमान का फ़र्क़ था। उधर वह मलका नूरजहाँ के लिबास-ए-फ़ाख़रह में मलबूस और इधर भारत सेवादल की एक रज़ाकार की वर्दी में। नसीम बानो को तीन-चार मर्तबा मेकअप के बग़ैर देखा तो मैंने सोचा, आराइश-ए-महफ़िल के लिए इससे बेहतर औरत और कोई नहीं हो सकती। वह जगह वह कोना जहाँ वह बैठती थी खड़ी होती एकदम सज जाता।

लिबास के इन्तख़ाब में वह बहुत मुहतात है और रंग चुनने के मामले में जो सलीक़ा और क़रीना मैंने उसके यहाँ देखा है और कहीं नहीं देखा। ज़र्द रंग बड़ा ख़तरनाक है। क्योंकि ज़र्द रंग के कपड़े आदमी को अक्सर ज़र्द मरीज़ बना देते हैं। मगर नसीम कुछ इस बेपरवाह बेतक़ल्लुफ़ी से यह रंग इस्तेमाल करती थी कि मुझे हैरत होती थी।

नसीम का महबूब लिबास साड़ी है। ग़रारा भी पहनती है। मगर गाह-ए, गाह-ए शलवार क़मीज़ पहनती है मगर सिर्फ़ घर में वह कपड़े पहनती है। इस्तेमाल नहीं करती यही वजह है कि उसके पास बरसों के पुराने कपड़े बड़ी अच्छी हालत में मौजूद हैं।

नसीम को मैंने बहुत मेहनती पाया। बड़ी नाज़ुक-सी औरत है। मगर सेट पर, बराबर डटी रहती थी। मुकर्जी को मुतमइन करना आसान काम नहीं। कई-कई रिहर्सलें करनी पड़ती थीं। घण्टों झुलसा देने वाली रौशनी के सामने उठक-बैठक करनी पड़ती थी। लेकिन मैंने देखा कि नसीम उकताती नहीं थी। मुझे बाद में मालूम हुआ कि उसको अदाकारी का बहुत शौक़ है। हम शूटिंग के साथ-साथ रशेज़ देखते थे। नसीम बानो का काम बस गवारा था। उसमें चमक नहीं थी। वह संजीदा अदाएँ मुहय्या कर सकती है अपने मुग़लाई ख़द-ओ-ख़ाल की हसीन झलकियाँ पेश कर सकती है, लेकिन नाक़िदाना निगाहों के लिए अदाकारी का जौहर पेश नहीं कर सकती। लेकिन फिर भी "चल-चल रे नौजवान" में उसका ऐक्टिंग पहले कि फ़िल्मों के मुक़ाबले में कुछ बेहतर ही था।

मुकर्जी उसमें करख़्तमी और दुरुश्तगी पैदा करना चाहता था। मगर यह कैसे पैदा होती। नसीम बेहद सर्द मिज़ाज है। चुनांचे नतीजा यह हुआ कि "चल-चल रे नौजवान" में नसीम का कैरक्टर गड्डमड्ड हो के रह गया।

फ़िल्म रिलीज़ हुआ। रात को ताज़ में एक शानदार पार्टी दी गयी। फ़िल्म में नसीम जैसी भी थी ठीक है। मगर ताज में वह सब से अलग नज़र आती थी, पुरवक़ार बा अज़मत मुग़लया शहज़ादियों की-सी शान और इंफ़रादियत लिये।

"चल-चल रे नौजवान" की तैयारी में दो बरस, दो उकता देने वाले बरस लग गये थे। जब फ़िल्म तौक़ेआत के मुताबिक़ क़ामयाब और मक़बूल न हुआ, तो हम सब पर अफ़सुर्दगी तारी हो गयी। मुकर्जी तो बहुत बेदिल हुआ, मगर काण्ट्रैक्ट के मुताबिक़ चूँकि उसे ताजमहल पिक्चर्ज़ के एक फ़िल्म की निगरानी करनी थी इसलिए कमर बस्ता हो कर काम शुरू करना

पड़ा।

फ़िल्म "चल-चल रे नौजवान" की तैयारी के दौरान में एहसान से मुकर्जी के ताल्लुक़ात बहुत बढ़ गये थे। जब ताजमहल पिक्चर्ज़ के फ़िल्म का सवाल आया तो एहसान ने उसकी प्रोडक्शन का सारा बोझ मुकर्जी के कन्धों पर डाल दिया। मुकर्जी ने मुझसे मशविरा किया। आख़िर यह तय हुआ कि 'बेगम' के उन्वान से मैं एक ऐसी कहानी लिखूँ जिसमें नसीम की ख़ूबसूरती को ज़्यादा-से-ज़्यादा इस्तेमाल किया जा सके।

मैंने एक ख़ाका तैयार किया। मुकर्जी ने उसमें कुछ तब्दीलियाँ कराईं। जब फ़िल्म तैयार हुआ तो मैंने बड़ी हैरत से यह महसूस किया कि जो कहानी मैंने सोची थी वह तो रद्दी काग़ज़ों पर है और जो पर्दे पर चल फिर रही है वह महज़ उसका हल्का-सा साया है।

कहानी का क़िस्सा छोड़िए। मुझे कहना यह है कि "बेगम" लिखने के दौरान में मुझे नसीम बानो को बहुत क़रीब से देखने के मवाक़े मिले। मैं और मुकर्जी दोपहर का खाना उनके घर पर खाते थे और हर रोज़ रात को देर तक कहानी में तरमीम-ओ-तनसीख़ करने में मसरूफ़ रहते थे।

मेरा ख़याल था नसीम बड़े आलीशान मकान में रहती है। लेकिन जब घोड़ बन्दर रोड पर उसके बँगले में दाख़िल हुआ, तो मेरी हैरत की कोई इन्तिहा न रही। बँगला निहायत शिकस्ता हालत में था। बड़ा मामूली क़िस्म का फ़र्नीचर, जो ग़ालिबन किराये पर लाया गया था। घिसा हुआ कालीन, दीवारें और फ़र्श सील ज़दह।

इस पस-मंज़र के साथ मैंने परी चेहरा नसीम बानो को देखा। बँगले के बरामदे में वह ग्वाले से दूध के कूपों के मुताल्लिक़ बातचीत कर रही थी। उसकी दबी-दबी आवाज़ जो ऐसा मालूम होता था कोशिश के साथ हलक़ से निकाली जा रही है। ग्वाले से क़बूलवा रही थी कि उसने आध सेर दूध का हेर-फेर किया है। आध सेर दूध और परी चेहरा नसीम बानो जिसके लिए कई फरहाद दूध की नहरें निकालने के लिए तैयार थे...मैं चकरा गया।

आहिस्ता-आहिस्ता मुझे मालूम हुआ कि "पुकार" की नूरजहाँ बड़ी घरेलू क़िस्म की औरत है और उसमें वह तमाम क़िस्म की खुसूसयात मौजूद हैं जो एक ग़ायत दर्जा घरेलू औरत में होती हैं। उसकी पिक्चर "बेगम" की प्रोडक्शन शुरू हुई, तो मलबूसात का सारा काम उसने सँभाल लिया। अन्दाज़ा था कि दस-बारह हज़ार रुपये इस मद पर उठ जायेंगे। मगर नसीम ने दर्ज़ी घर में बैठाकर अपनी पुरानी साड़ियों, क़मीज़ों और ग़रारों से लिबास तैयार करवा लिए।

नसीम के पास बेशुमार कपड़े हैं। मैं इससे क़ब्ल कह चुका हूँ कि वह लिबास पहनती है इस्तेमाल नहीं करती। उस पर हर लिबास सजता है। यही वजह है कि "बेगम" में एस. मुकर्जी ने उसको कश्मीर के देहात की एक अल्हड़ लड़की के रूप में पेश किया। उसको क्लियोपेट्रा बनाया। हीर का लम्बा कुर्ता और लाचा पहनाया। माडर्न लिबास में भी पेश किया।

यक़ीन वासिक़ था कि सिर्फ़ मलबूसात के तनव्वों के बायस "बेगम" बेहद मक़बूल साबित होगी। मगर अफ़सोस कि निकम्मी डायरेक्शन और कमज़ोर म्यूजिक की वजह से

इसने दरमियाने दर्जे के फ़िल्मों की बिज़नेस की।

हम सब ने इस फ़िल्म की तैयारी पर बहुत मेहनत की थी। ख़ास तौर पर मुकर्जी ने। हम सब देर तक (बाज़ अवक़ात रात के तीन-तीन बजे तक) बैठ काम करते रहते। मैं और मुकर्जी कहानी की नोक-पलक दुरुस्त करते रहते और नसीम और एहसान जागने की कोशिश करते रहते। जब तक एहसान साहब की टाँग हिलती रहती वह मेरी और मुकर्जी की बातें सुनते रहते, लेकिन ज्यों ही उनकी टाँग हिलना बन्द हो जाती, हम सब समझ जाते कि वह गहरी नींद सो गये हैं।

नसीम को इससे बड़ी झुँझलाहट होती थी कि उसका शौहर नींद का ऐसा माता है कि कहानी के निहायत ही दुश्वार गुज़ार मोड़ पर लम्बी तान कर सो जाता है। मैं और मुकर्जी एहसान को छेड़ते थे तो नसीम बहुत जज़ बज़ होती थी। वह उनको अपनी तरफ़ से झँझोड़ कर जगाती थी। मगर ऐसा मालूम होता कि लोरी दे कर उन्हें और गहरी नींद सुला रही है... जब नसीम की आँखें भी मुँदने लगती तो मुकर्जी रुख़्सत चाहते और चले जाते।

मेरा घर घोड़ बन्दर से बहुत दूर था। बर्की ट्रेन क़रीब-क़रीब पौन घंटे में मुझे वहाँ पहुँचाती थी। हर रोज़ निस्फ़ शब के बाद घर पहुँचता। एक अच्छा ख़ासा अज़ाब था। मैंने जब इसका ज़िक्र मुकर्जी से किया तो यह तय हुआ कि मैं अर्से के लिए नसीम ही के यहाँ उठ आऊँ।

एहसान बेहद झेंपू हैं। कोई बात कहना हो तो बरसों लगा देते हैं। उन्हें मेरी आसाइश का ख़याल था। वह चाहते थे कि जिस चीज़ की मुझे जरूरत हो, मैं उनसे बिला तकल्लुफ़ कह दिया करूँ। मगर तकल्लुफ़ की यह हद थी कि वह हर्फ़-ए-मुद्दआ ज़बान पर ला ही नहीं पाते थे। आख़िर एक रोज़ उनके इसरार पर नसीम ने मुझसे कहा..."त हानू जिस चीज़ दी ज़रूरत होवे दस दिया करो।"

नसीम फ़र्स्ट क्लास पंजाबी बोलती थी। "चल-चल रे नौजवान" के ज़माने में जब मैंने रफ़ीक़ ग़ज़नवी से जो इस पिक्चर में एक अहम रोल अदा कर रहा था ज़िक्र किया कि नसीम पंजाबी बोलती है, तो उसने अपने अन्दाज़ में मुझसे कहा कि तुम बकते हो। मैंने उसको यक़ीन दिलाने की कोशिश की। मगर वह न माना।

एक रोज़ शूटिंग के दौरान में नसीम और रफ़ीक़ दोनों मौजूद थे और अशोक अंग्रेज़ी के "ज़बान मरोड़ फिकरे" नसीम से कहलवाने की कोशिश कर रहा था, तो मैंने रफ़ीक़ से पूछा..."लाले! अधड़ौंजा किसे कहते है?"

रफ़ीक़ ने जवाब दिया..."यह किस ज़बान का लफ़्ज़ है।"

मैंने कहा..."पंजाबी ज़बान का?...बताओ इसका क्या मतलब है?"

रफ़ीक़ ने अपने मख़सूस अन्दाज़ में कहा..."मैनूँ मालूम नई ओ अधड़ौंजे दे पुत्तर।"

नसीम ने गर्दन में हल्का-सा ख़म दे कर रफ़ीक़ की तरफ़ देखा और मुस्करा कर पंजाबी में उससे पूछा "सच्ची, तुहानूँ मलूम नई।"

रफ़ीक़ ने जब नसीम के मुँह से पंजाबी सुनी तो बक़ौल शख़्से वह अपनी पश्तो भूल गया। लुकनत भरे लहजे में उसने नसीम से उर्दू में कहा, "आप पंजाबी जानती हैं?"

नसीम ने उसी तरह मुस्करा कर कहा, “जी हाँ।”

मैं नसीम से मुख़ातिब हुआ। “तो आप बताइए अधड़ौंजे का मतलब क्या है?”

नसीम ने कुछ देर सोचा। “वह...वह लिबास जो घर में इस्तेमाल किया जाता है।”

रफ़ीक़ ग़ज़नवी अपनी पश्तो और ज़्यादा भूल गया।

नसीम की नानी अमृतसर की कश्मीरन थी। पंजाबी ज़बान उसने ग़ालिबन उसी से सीखी थी। उर्दू इस लिए बहुत शुस्ता-ओ-रफ़्ता बोलती है कि दिल्ली में अपनी माँ के साथ रही। अंग्रेज़ी जानती है इसलिए कि कान्वेंट में पढ़ती थी। मौसीक़ी से शग़फ रखती है। उसकी तालीम माँ से ही पायी। मगर माँ जैसा सुरीला गला न पाया। फ़िल्मों में अपने गाने ख़ुद ही गाती है। मगर उनमें रस नहीं होता, लेकिन अब मैंने सुना है कि उसने ख़ुद गाना तर्क कर दिया है।

नसीम के इर्द-गिर्द जो एक ख़ीरा कुन हाला था, आहिस्ता-आहिस्ता ग़ायब हो गया। मुझे उनके बँगले के गुसलख़ाने में पहली बार नहाने का इत्तफ़ाक़ हुआ, तो मुझे बड़ी नाउम्मीदी हुई। मेरा ख़याल था कि वह जदीद साज़-ओ-सामान से आरास्ता होगा। मुतअद्दद क़िस्म के नहाने वाले नमक होंगे। नायाब साबुन होगा। टब होगा और तमाम ऊटपटाँग चीज़ें होंगी। जो हसीन औरतें और ऐक्ट्रेसें, अपने हुस्न की अफ़ज़ाइश के लिए इस्तेमाल करती हैं। मगर वहाँ सिर्फ़ एक जस्त की बाल्टी थी। एलमुनियम का एक डोंगा और मलाड के कुँए का भारी पानी कि साबुन घिसते रहो और झाग पैदा न हो।

लेकिन नसीम को जब भी देखो तरोताजा और निखरी-निखरी नज़र आती थी। मेकअप करती थी मगर हल्का...शोख़ रंगों से उसे नफ़रत है। वह सिर्फ़ वही रंग इस्तेमाल करती है, जो उसके मिज़ाज के मुवाफ़िक़ हों यानी मुअतदिल।

इत्रयात से उसको इश्क़ है। चुनांचे अनवाअ-ओ-इक़साम की खुश्बूयात उसके पास मौजूद रहती हैं। बाज़ सेंट तो बहुत ही क़ीमती और नायाब हैं। ज़ेवर एक से एक आला और बेशकीमत है। मगर उनमें लदी-फँदी नहीं होती। कभी हीरे का एक कंगन पहन लिया, कभी जड़ाऊँ चूड़ियाँ और कभी मोतियों का हार।

उनका दस्तरख़्वान मैंने कभी पुरतकल्लुफ़ नहीं देखा। एहसान को दमे की शिकायत रहती है और नसीम को ज़ुकाम की। दोनों परहेज़ की कोशिश किया करते थे। नसीम मेरी हरी मिर्चें ले उड़ती थी और एहसान नसीम की प्लेट पर हाथ साफ़ कर देते थे। दोनों में खाने पर क़रीब-क़रीब हर रोज़ एक अजीब बचकाना किस्म की चख़ होती थी। दोनों की निगाहें जब इस दौरान में एक-दूसरे से टकरातीं, तो देखने वालों को साफ़ पता लग जाता कि वह मुहब्बत-आशना हैं।

नसीम को जब मेरी बीवी ने अपने यहाँ मदअऊ किया, तो उसे सालनों में इस्तेमाल किया हुआ घी बहुत पसन्द आया। खाने की मेज़ ही पर उसने पूछा...“यह घी आप कहाँ से मँगवाती हैं?”

मेरी बीबी ने जवाब दिया...“बाज़ार से...पालसन का घी है...आम मिलता है।”

नसीम ने कहा...“दो डिब्बे मुझे मँगवा दीजिए।” मैंने नौकर से कहा। वह फ़ौरन ही पास

वाले स्टोर से जिसके साथ मेरा हिसाब चलता था। दो डिब्बे ले आया।

इसी तरह वह कुल आठ टीन ले गयी। एक दिन मुझसे कहने लगी..."आप वह घी का हिसाब तो कर लीजिए।"

मैंने कहा..."इसकी क्या ज़रूरत है?"

लेकिन जब उसने इसरार किया, तो मैंने कहा..."कुल आठ टीन होते हैं...आप हिसाब कर लीजिए।" नसीम ने कुछ देर सोचने के बाद कहा, "आठ? मेरा ख़याल है सात टीन आये हैं।"

"सात ही होंगे।"

"होंगे क्या...आप कहते हैं तो आठ ही होंगे।"

"आप ने भी होंगे ही कहा।"

काफ़ी देर तक सात और आठ का हेर-फेर रहा। नसीम के हिसाब के मुताबिक़ टीन सात थे और मेरे और स्टोर वाले के हिसाब के मुताबिक़ आठ। फैसला यूँ ही हो सकता था कि हम में से एक-दूसरे का हिसाब मान ले मगर जब बात हिसाब की थी तो कौन मानता। आख़िर नसीम ने अपने मुलाज़िम से कहा कि ख़ाली टीन इकट्ठे करे। जब ये इकट्ठे करके नसीम के रू-बरू पेश किये गये तो उनकी तादाद सात थी। नसीम ने फ़ातहाना अन्दाज़ में मेरी तरफ़ देखा और कहा..."गिन लीजिए। सात हैं।"

मैंने फिर कहा..."सात ही होंगे...लेकिन मेरे हिसाब के मुताबिक़ आठ होते हैं।"

मुलाज़िम नसीम से मुख़ातिब हुआ। "जी हाँ! आठ ही होते हैं। एक भंगन ले गयी थी।"

मैं उनसे पाँच सौ रुपये माहवार लेता था। हर महीने उसकी पायी-पायी का हिसाब होता था। लेकिन उस में कभी सात और आठ का हेर-फेर न हुआ। मियाँ-बीवी दोनों मेरे काम से मुतमईन थे। लेकिन मिस्टर एहसान किसी हद तक मेरी तेज़ तबीयत से नालां थे। मगर इसका इज़हार वह अपनी हद से बढ़ी पुर-तकल्लुफ़ तबीयत के बायस मुझ पर कभी न कर सके।

बज़ाहिर मिस्टर एहसान बहुत दबैल क़िस्म के इंसान हैं। मगर अपनी बीवी के मामले मैं बहुत सख़्त क़िस्म गीर वाक़अ हुए हैं। नसीम को सिर्फ़ ख़ास-ख़ास लोगों से मिलने की इजाज़त है। आम ऐक्टरों और ऐक्ट्रेसों से नसीम को बातचीत की मुमानअत है। वैसे नसीम भी छिछोरों से नफ़रत करती है। शोर-ओ-गुल बरपा करने वाली पार्टियों से वह ख़ुद भी दूर रहती है। लेकिन एक दफ़ा उसे एक बहुत बड़े हंगामें में हिस्सा लेना पड़ा।

यह हंगामा होली का हंगामा था। जिस तरह अलीगढ़ यूनिवर्सिटी की एक "ट्रेडीशन" बरखा के आगाज़ पर "मड पार्टी" है। उसी तरह बम्बे टॉकीज़ की एक ट्रेडीशन होली की रंग पार्टी थी। चूँकि फ़िल्मिस्तान के क़रीब-क़रीब तमाम कारकुन बम्बे टॉकीज़ के महाजिर थे। इसलिए यह ट्रेडीशन यहाँ भी क़ायम रही।

एस. मुकर्जी उस रंग पार्टी के रिंग लीडर थे। औरतों की कमान उनकी मोटी और हँसमुख बीवी (अशोक की बहन) के सिपुर्द थी। मैं शाहिद लतीफ़ के यहाँ बैठा था। शाहिद की बीवी इस्मत (चुगताई) और मेरी बीवी (सफ़िया) दोनों ख़ुदा मालूम क्या बातें कर रही थीं।

एकदम शोर बरपा हुआ। इस्मत चिल्लाई। “लो सफ़िया वह आ गये...लेकिन मैं भी...”

इस्मत इस बात पर अड़ गयी कि वह किसी को अपने ऊपर रंग फेंकने नहीं देगी। मुझे डर था कि उसकी यह ज़िद कहीं दूसरा रंग इख़्तियार न कर ले। क्योंकि रंग पार्टी वाले सब “होली के मूड” में थे। ख़ुदा का शुक्र है कि इस्मत का मूड ख़ुद बख़ुद बदल गया और वह चन्द लम्हात ही में रंगों में लत पत भुतनी बन कर दूसरी भुतनियों में शामिल हो गयी। मेरा और शाहिद लतीफ़ का हुलिया भी वही था, जो होली के दूसरे भुतनों का था।

पार्टी में जब कुछ और लोग शामिल हुए तो शाहिद लतीफ़ ने बा आवाज़-ए-बुलन्द कहा, “चलो परी चेहरा नसीम के घर का रुख करो।”

रंगों से मुसल्लह गिरोह घोड़ बन्दर रोड की ऊँची-नीची तारकोल लगी सतह पर बेढंगे बेल-बूटे बनाता और शोर मचाता नसीम के बँगले की तरफ़ रवाना हुआ। चन्द मिनटों ही में हम सब वहाँ थे। शोर सुन कर नसीम और एहसान बाहर निकले। नसीम हल्के रंग की जारजट की साड़ी में मलबूस मेकअप की नोक पलक निकाले, जब हुजूम के सामने बरामदे में नमूदार हुई, तो शाहिद ने बिज़न का हुक्म दिया। मगर मैंने उसे रोका, “ठहरो! पहले इनसे कहो कपड़े बदल आयें।”

नसीम से कपड़े तब्दील करने के लिए कहा गया तो वह एक अदा के साथ मुस्कराई, “यही ठीक है।”

अभी यह अल्फ़ाज़ उसके मुँह ही में थे कि होली की पिचकारियाँ बरस पड़ीं। चन्द लम्हात ही में परी चेहरा नसीम बानो एक अजीब-ओ-ग़रीब क़िस्म की ख़ौफ़नाक चुड़ैल में तब्दील हो गयी। नीले-पीले रंगों की तहों में से जब उसके सफ़ेद और चमकीले दाँत और बड़ी-बड़ी आँखें नज़र आतीं तो ऐसा मालूम होता कि बहुज़ाद और मानी की मुसव्वरी पर किसी बच्चे ने स्याही उड़ेल दी है।

रंगबाज़ी ख़त्म होने पर कबड्डी शुरू हुई। पहले मर्दों का मैच शुरू हुआ फिर औरतों का। यह बहुत दिलचस्प था। मिस्टर मुकर्जी की फरबा बीवी जब भी गिरती कहक़हों का तूफ़ान-बरपा हो जाता। मेरी बीवी ऐनक-पोश थी। शीशे रंग-आलूद होने के बायस उसे बहुत कम नज़र आता था। चुनांचे वह अक्सर ग़लत सिम्त दौड़ने लगती। नसीम से भगा नहीं जाता था या वह यह जाहिर करना चाहती थी कि वह उस मशक्क़त की आदी नहीं। बहरहाल वह बराबर खेल में दिलचस्पी लेती रही।

नसीम और उसके मियाँ बड़े मज़हबी क़िस्म के आदमी हैं। मेरा मतलब उस क़िस्म के मज़हबी आदमियों से है, जो उर्दू के अख़बारों के पुर्ज़े ज़मीन से उठा कर चूमते हैं और सिर आँखों पर लगाते हैं। शाम को एक सितारा देखते हैं, तो और दो देखने के लिए सारा आसमान खँगालना शुरू कर देते हैं। दोनों तौहम-परस्त हैं। ख़ासतौर पर मियाँ एहसान। रेस-कोर्स पर उनकी हालत देखने वाली होती है। पास बहुत अच्छी टिप है। क़रीब है कि उस पर रुपया लगा दें कि एक काना आदमी पास से गुज़र गया। बस वही रुक जायेंगे। टिप का घोड़ा दिन आ जायेगा तो नसीम से उलझ पड़ेंगे, “तुमने क्यों कहा था कि इस घोड़े पर न लगाना... नहीं आयेगा।”

ऐसी हल्की-हल्की चख़ उनमें आम होती रहती थी, जो उनकी अज़दवाजी ज़िन्दगी में रंग भरती रहती है।

नसीम के दो बच्चे हैं जो अक्सर नानी के पास रहते हैं। वह उनको स्टूडियो की फ़ज़ा से दूर रखना चाहती है। उसको अपने मरहूम बाप से बहुत प्यार है। उनका फ़ोटो हर वक़्त उसके वैनिटी-बैग में मौजूद रहता है। मुझे औरतों के बैग चोरी-चोरी देखने का बहुत शौक़ है। एक रोज़ मैं हस्ब-ए-आदत नसीम का बैग खोलकर फ़ोटो देख रहा था कि वह आ गयी। मैंने उससे कहा…“माफ कीजिएगा…यह मेरी बहुत बुरी आदत है…बताइए, यह किसका फ़ोटो है।”

नसीम ने फ़ोटो हाथ में ले कर उसको प्यार-भरी नज़रों से देखा और कहा…“मेरे अव्बा जी का।”

मुझे ऐसा महसूस हुआ कि एक छोटी-सी बच्ची है जो मुझसे यूँ कह रही है “मेरे अव्बा जी का और किसका?”

मैंने उससे यह न पूछा कि वह कौन है? कहाँ है?…“क्या यही काफ़ी न था कि वह उसके बाप हैं…नहीं उसके अव्बा जी हैं।”

ज़ैल का यह वाक़अ बयान करने के बाद मैं यह मज़मून ख़त्म करूँगा।

“बेगम” लिखने के दौरान में मिस्टर मुकर्जी के साथ एक मंज़र पर बहस-ओ-तमहीस करते-करते बहुत देर हो गयी। रात के दो बजे थे। सुबह की पहली गाड़ी साढ़े तीन बजे मिलती थी। मेरी बीवी साथ थी। जब हमने रुख़्सत चाही तो नसीम ने कहा…“नहीं सफ़िया…यहीं ठहर जाओ। यह भी वक़्त है जाने का।”

हमने बहुत कहा कि कोई बात नहीं। मौसम अच्छा है। कुछ देर प्लेटफ़ार्म पर टहलेंगे। इतने में गाड़ी आ जायेगी। मगर नसीम और एहसान ने बहुत इसरार किया कि हम ठहर जायें। मुकर्जी चले गये। इसलिए कि उनके पास मोटर थी और उन्हें बहुत दूर नहीं जाना था। मैं बाहर बरामदे में सो गया। एहसान वहीं कमरे में सोफ़े पर लेट गये।

सुबह नाश्ता करके जब मैं और सफ़िया घर चले तो रास्ते में उसने मुझे यह बात सुनाई जो दिलचस्पी से ख़ाली नहीं।

जब सफ़िया और नसीम सोने के लिए कमरे में दाख़िल हुई तो वहाँ एक पलँग था। सफ़िया ने इधर-उधर देखा और नसीम से कहा, “आप सो जाइए।”

नसीम मुस्कराई और पलँग पर नयी चादर बिछा कर कहने लगी, “कपड़े तो बदल लें।”

यह कहकर उसने एक नया स्लीपिंग सूट निकाला। “यह तुम पहन लो…बिलकुल नया है।”

“बिलकुल नया” पर ज़ोर था। जिसका मतलब मेरी बीवी समझ गयी और लिबास तब्दील करके बिस्तर पर लेट गयी। नसीम ने इत्मीनान से आहिस्ता-आहिस्ता शब-ख़्वाबी का लिबास पहना चेहरे का मेक-अप उतारा तो सफ़िया ने हैरत जदह हो कर कहा…“हाय तुम कितनी पीली हो नसीम।”

नसीम के फीके होंटों पर मुस्कराहट नमूदार हुई, “यह सब मेक-अप की कारस्तानी है।”

मेक-अप उतारने के बाद उसने चेहरे पर मुख़्तलिफ़ रोग नयात मले और हाथ धो कर कुरआन उठाया और तलावत शुरू कर दी। मेरी बीवी बेहद मुतास्सिर हुई। बेइख़्तियार उसके मुँह से निकला, "नसीम...ख़ुदा की क़सम, तुम तो हम लोगों से कहीं अच्छी हो..."

इस एहसास से कि यह बात उसने ढंग से नहीं कहीं, सफ़िया एकदम ख़ामोश हो गयी।

कुरआन की तलावत करने के बाद नसीम सो गयी।

परी चेहरा नसीम...पुकार की नूरजहाँ...मलका-ए-हुस्न...एहसान की रौशन...छमियाँ की बेटी और दो बच्चों की माँ।

लतिका रानी

वह ख़ूबसूरत नहीं थी। कोई ऐसी चीज़ जो अपने रूप में नहीं था जिसे आकर्षक कहा जा सके, लेकिन इसके बावजूद जब वह पहली बार फ़िल्म के पर्दे पर आयी तो उसने लोगों के दिल मोह लिये और ये लोग जो उसे फ़िल्म के परदे ही पर नन्ही मुन्नी अदाओं के साथ बड़े नर्मो-नाज़ुक रूमानों में छोटी-सी तितली की तरह इधर से उधर और उधर से इधर थिरकते देखते थे, समझते थे कि वो बहुत ख़ूबसूरत है। उसके चेहरे मोहरे और उसके नाज़ नखरे में उनको ऐसी काशिश नज़र आती थी कि वह घण्टों उसकी रोशनी में चकित मक्खियों की तरह भिनभिनाते रहते थे।

अगर किसी से पूछा जाता कि तुम्हें लतिका रानी की ख़ूबसूरती में कौन-सी सबसे बड़ी विशेषता नज़र आती है जो उसे दूसरी ऐक्ट्रेसों से अलग हैसियत बख़्शती है तो वह बिना संकोच यह कहता है कि उसका भोलापन और यह वाक़िया है कि पर्दे पर वह इन्तिहा दर्जे की भोली दिखायी देती थी। उसको देख कर उसके सिवा कोई और ख़याल दिमाग़ में आ ही नहीं सकता था कि वह भोली है। बहुत ही भोली। और जिन रूमानों के पसमंज़र के साथ वह पेश हुई थी उनके ताने-बाने यूँ मालूम होता था किसी जुलाहे की अल्हड़ लड़की ने तैयार किये हैं।

वह जब भी पर्दे पर पेश हुई। एक मामूली अनपढ़ आदमी की बेटी के रूप में, चमकीली दुनिया से दूर एक टूटा हुआ झोंपड़ा ही जिसकी सारी दुनिया थी। किसी किसान की बेटी, किसी मज़दूर की बेटी, किसी काँटा बदलने वाली की बेटी। और वो इन किरदारों के खोल में यूँ समा जाती थी जैसे गिलास में पानी।

लतिका रानी का नाम आते ही आँखों के सामने टख़नों से बहुत ऊँचा घाघरा पहने खींचकर ऊपर को हुई नन्ही-मुन्नी चोटी वाली, कम क़द की एक छोटी-सी लड़की आ जाती थी जो मिट्टी के छोटे-छोटे घरौंदे बनाने या बकरी के मासूम बच्चे के साथ खेलने में व्यस्त है। नंगे पाँव, नंगे सर फँसी-फँसी चोली में बड़े शाइराना नम्रता के साथ सीने का छोटा-सा उभार, सन्तुलित आँखों, शरीफ़-सी नाक, इसके सरापा में यूँ समझिए कि दोशीज़गी का ख़ुलासा हो गया था जो हर देखने वाले की समझ में आ जाता था पहले फ़िल्म में आते ही वह मशहूर हो गयी और उसकी यह शोहरत अब तक क़ायम है हालाँकि उसे फ़िल्मी दुनिया छोड़े एक मुद्दत हो चुकी है। अपनी फ़िल्मी ज़िन्दगी के दौरान में उसने शोहरत के साथ दौलत भी पैदा की। इस नपे-तुले अन्दाज़ में गोया उसको अपनी ज़ेब में आने वाली हर पायी के आने की जानकारी थी और शोहरत के तमाम ज़ीने भी उसने इसी अन्दाज़ से तय किये कि हर आने वाले ज़ीने की तरफ़ उसका क़दम विश्वास के साथ उठा होता था।

लतिका रानी बहुत बड़ी अदाकार और अजीबो-ग़रीब औरत थी। इक्कीस वर्ष की उम्र

में वह फ्रांस में शिक्षा प्राप्त कर रही थी तो उसने फ्रांसीसी भाषा के बजाय हिन्दुस्तानी भाषा सीखनी शुरू कर दी। स्कूल में एक मद्रासी नौजवान को उससे मुहब्बत हो गयी थी। उससे शादी करने का वह पूरा-पूरा फ़ैसला कर चुकी थी लेकिन जब लन्दन गयी तो उसकी मुलाक़ात एक अधेड़ उम्र के बंगाली से हुई जो वहाँ बैरिस्टरी पास करने की कोशिश कर रहा था। लतिका ने अपना इरादा बदल दिया और दिल में तय कर लिया कि वह उससे शादी करेगी और यह फ़ैसला उसने बहुत सोच-विचार के बाद किया था। उसने बैरिस्टरी पास करने वाले अधेड़ उम्र बंगाली में वह आदमी दिखा जो इसके ख़्वाबों की तकमील में हिस्सा ले सकता था। वह मद्रासी जिससे उसको मुहब्बत थी जर्मनी में फेफड़े के बीमारी की जाँच व इलाज में महारत हासिल कर रहा था। उससे शादी करके ज़्यादा से ज़्यादा उसे अपने फेफड़ों की अच्छी देखभाल की ज़मानत मिल सकती थी। जो उसके लिए आवश्यक नहीं था। लेकिन प्रफुल्ल राय एक ख़्वाब साज़ था। ऐसा ख़्वाब साज़ जो बड़े देर तक ख़्वाब बुन सकता था और लतिका इसके चारों तरफ़ अपनी निसवानियत के बड़े मज़बूत जाले तान सकती थी।

प्रफुल्ल राय एक मध्यम घराने का व्यक्ति था। बहुत मेहनती। वह चाहता तो कानून की बड़ी से बड़ी डिग्री तमाम विद्यार्थीयों से आगे रह कर प्राप्त कर सकता था मगर उसे इस ज्ञान से सख़्त नफ़रत थी। केवल अपने माँ-बाप को खुश रखने के लिए वह डिनर्ज में हाज़री देता था। इसका दिलो दिमाग़ किसी और ही तरफ़ लगा रहता था। किस तरफ़? यह उसको मालूम नहीं था। वह रात में खोया-खोया-सा रहता था। उसको भीड़ से सख़्त नफ़रत थी। पार्टियों से कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसका सारा समय क़रीब-क़रीब अकेले में गुज़रता किसी चायख़ाने में या अपनी बूढ़ी लैण्ड लेडी के पास बैठा वह घण्टों ऐसे क़िले बनाता रहता था जिनकी बुनियादें होती थी न फ़सीलें। मगर इसको यक़ीन था कि एक न एक दिन उससे कोई न कोई इमारत ज़रूर बन जायेगी जिसको देख कर वह खुश हुआ करेगा।

लतिका जब प्रफुल्ल राय से मिली तो चन्द मुलाक़ातों ही में उसको मालूम हो गया कि यह बैरिस्ट्री करने वाला बंगाली मामूली आदमी नहीं। दूसरे मर्द इससे दिलचस्पी लेते रहते थे इसलिए कि वो जवान थी, उनमें से अक्सर ने उसके हुस्न की तारीफ़ की थी लेकिन मुद्दत हुई वह उसका फ़ैसला अपने ख़िलाफ़ कर चुकी थी। उसको मालूम था कि उनकी तारीफ महज़ रस्मी है। मद्रासी डॉक्टर जो उससे सचमुच मुहब्बत करता था उसको सही मायनों में ख़ूबसूरत समझता था। मगर लतिका समझती थी कि वह उसकी नहीं उसके फेफड़ों की तारीफ़ कर रहा है जो उसके कहने के अनुसार बे दाग़ थे। वह एक मामूली शक्लो-सूरत की लड़की थी बहुत ही मामूली शक्लो-सूरत की जिसमें जाज़बियत थी न कशिश, उसने कई बार महसूस किया कि वह अधूरी सी है। इसमें बहुत-सी कमियाँ हैं जो पूरी तो हो सकती हैं मगर बड़ी छान-बीन के बाद और वह भी उस समय जब उसको ख़ारज़ी मदद हासिल हो।

प्रफुल्ल राय से मिलने के बाद लतिका ने महसूस किया था कि वह जो बज़ाहिर सिगरेट पर सिगरेट फूँकता रहता है असल में सिगरेटों के परेशान धुएँ में अपने दिमाग़ की ग़ैर हाज़री के वाबजूद उसकी शक्लो-सूरत के तमाम हिस्से बिखेर कर उनको अपने तौर पर सँवारने में

व्यस्त रहता है। वह उसके बात करने का अन्दाज़ उसके होंटों की जुम्बिश और उसकी आँखों की हरकत को सिर्फ़ अपनी नहीं दूसरों की आँखें से भी देखता है—फिर उनको उलट-पुलट कर करता है और अपने ख़याल में बात करने का नया अन्दाज़, होठों की नयी जुम्बिशें और नयी हरकत पैदा करता है। एक छोटे-से परिवर्तन पर वह बड़े महत्त्वपूर्ण परिणाम की बुनियाद खड़ी करता है—और दिल ही दिल में खुश होता है।

लतिका ज़हीन थी, उसको तुरन्त ही मालूम हो गया था कि प्रफुल्ल राय ऐसा निर्माता है—जो उसे इमारत का नक़्शा बना कर नहीं दिखायेगा। वह उससे यह भी नहीं कहेगा कि ईंट उखाड़ कर कहाँ लगायी जायेगी तो इमारत का ऐब दूर होगा चुनांचे उसने उसके ख़यालात ही से सब हिदायतें वसूल करना शुरू कर दी थीं।

प्रफुल्ल राय लतिका दोनों सन्तुष्ट थे, इसलिए वह दोनों मलजूम से हो गये थे। एक के बिना दूसरा अधूरा था। लतिका को ख़ास तौर पर अपनी दिमाग़ी व शारीरिक करवट में प्रफुल्ल की ख़ामोश आलोचना का सहारा लेना पड़ता था। वह उसके अदा की कसौटी थी स्पष्ट शून्य में देखने वाली निगाहों से उसको पता चल जाता था कि उसकी पलक की कौन सी नोक टेढ़ी है। लेकिन वह अब यह हक़ीक़त मालूम कर चुकी थी। कि वह हरारत जो उसकी शून्य में देखने वाली आँखों में है उसकी आग़ोश में नहीं थी। लतिका के लिए यह बिलकुल ऐसी थी जैसी खर्री चारपाई लेकिन वह सन्तुष्ट थी इसलिए कि उसके सपनों के बालों पर निकालने के लिए प्रफुल्ल की आँखों की हरारत ही काफ़ी थी।

वह बड़ी सूझबूझ वाली औरत थी। उसने दो महीने के समय ही में अनुमान लगा लिया था कि एक साल के अन्दर-अन्दर उसके सपनों की पूर्ति हो जायेगी। क्योंकर होगी और किस फ़िज़ा में होगी। यह सोचना प्रफुल्ल राय का काम था और लतिका को विश्वास था कि उसका हमेशा गतिवान दिमाग़ कोई न कोई रास्ता पैदा करेगा। चुनांचे दोनों जब भारत वापस जाने के इरादे से बर्लिन की सैर को गये और प्रफुल्ल की—ख़ाली जगह में देखने वाली आँखों की गहराइयों में अपने भविष्य की साफ़ झलक देख ली। वह एक मशहूर जर्मन ऐक्ट्रेस से जिससे सिर्फ़ बात-चीत थी मगर लतिका महसूस कर रही थी कि उसके सरापा को केनवस का टुकड़ा बना कर ऐक्ट्रेस लतिका के नक़्शो-निगार बना रहा है।

बम्बई पहुँचे तो ताजमहल होटल में प्रफुल्ल राय की मुलाक़ात एक अंग्रेज़ नाईट से हुई जो क़रीब-क़रीब मुफ़लिस था मगर उसकी जानकारी का क्षेत्र बहुत ऊँचा था। उम्र साठ से कुछ ऊपर, ज़बान में सभ्य क़िस्म के आदात व तरीक़े, प्रफुल्ल राय उसके सम्बन्ध में कोई राय स्थापित न कर सका मगर लतिका रानी की अन्दाज़ गीर तबीयत ने तुरन्त भाँप लिया कि उससे बड़े फ़ायदामन्द काम लिए जा सकते हैं। चुनांचे वह नर्स की सी जवज्जोह और खुलूस के साथ उससे मिलने जुलने लगी और जैसा कि लतिका को मालूम था एक दिन डिनर पर एक तरह स्वयं तय हो गया कि उस फ़िल्म कम्पनी में जो प्रफुल्ल राय स्थापित करेगा। वह दो मेहमान जो सर हावर्ड पेसिपिकल ने आमन्त्रित किये थे डायरेक्टर होंगे और कुछ दिन के अन्दर-अन्दर वह सारी परेशानियाँ दूर हो गयीं जो एक लिमिटेड कम्पनी की बुनियादें खड़ी करने में सामने आते हैं।

सर हावर्ड बहुत काम का आदमी सिद्ध हुआ। यह प्रफुल्ल की प्रतिक्रिया थी लेकिन लतिका शुरू ही से जानती थी कि वह ऐसा आदमी है जिसकी सार्थकता बहुत जल्द नज़रों में आ जायेगी। वह जब उसकी सेवा में कुछ समय देती थी तो प्रफुल्ल जंलन महसूस करता था मगर लतिका ने कभी इसकी तरफ़ ध्यान ही नहीं दिया था, इसमें कोई शक नहीं कि उसकी निकटता से बुड्ढ़ा सर हावर्ड एक गुणा जिन्सी तस्कीन हासिल करता था मगर वह उसमें कोई मुज़ायक़ा नहीं समझती थी। यूँ तो वह मालदार मेहमान भी असल में इसी को वजह से अपनी पूँजी लगाने के लिए तैयार हुए थे और लतिका को इस पर भी कोई ऐतराज़ नहीं था। उसके नज़दीक यह लोग सिर्फ़ उसी वक़्त तक अहम थे जब तक उनका सरमाया उन की तजर्बों में था। वह उन दिनों की कल्पना बड़ी आसानी से कर सकती थी जब यह मारवाड़ी सेठ स्टूडियोज़ में हल्की-सी झलक देखने के लिए भी तरसा करेंगे लेकिन यह दिन क़रीब लाने के लिए उसको कोई जल्दी नहीं थी, हर चीज़ उसके हिसाब के अनुसार अपने समय पर ठीक हो रही थी। लिमिटेड कम्पनी का निवास कार्य में था। उसके सारे भाग भी बिक गये। सर हावर्ड के अच्छे सम्बन्ध और प्रभाव के कारण एक अच्छे स्थान पर स्टूडियो के लिए ज़मीन का टुकड़ा भी मिल गया। उधर से छुट्टी हुई तो डायरेक्टरों ने प्रफुल्ल राय से विनती की कि वह इंग्लैण्ड जा कर ज़रूरी सामान ख़रीद लाये।

इंग्लैण्ड जाने से एक दिन पहले प्रफुल्ल ने ठेठ यूरोपी अन्दाज़ में लतिका से शादी की विनती को जो उसने तुरन्त मंज़ूर कर ली। अतः उसी दिन उन दोनों की शादी हो गयी।

दोनों इंग्लैण्ड गये। हनीमून में दोनों के लिए कोई नयी बात नहीं थी। एक-दूसरे के सम्बन्ध में जो ज़ाहिर होना था वह काफ़ी दिन हुआ उन पर हो चुके थे। उनको अब धुन केवल इस बात की थी कि वह कम्पनी जो उन्होंने स्थापित की है उसके लिए मशीनरी ख़रीदे और वापस मुम्बई जा कर काम में लग जायें।

लतिका ने कभी इस के सम्बन्ध में न सोचा था कि प्रफुल्ल जो फ़िल्म साज़ी से बिलकुल अंजान है स्टूडियो कैसे चलायेगा। उसको उसकी दिमाग़ की जानकारी थी। जिस तरह उसने ख़ामोशी ही ख़ामोशी में केवल अपनी ख़ला में देखने वाली आँखों से उसकी नोक पलक ठीक कर दी थी। इसी तरह उसको यक़ीन था कि वह फ़िल्म साज़ी में भी सफल होगा। वह उसको जब अपने पहले फ़िल्म में हिरोइन बना कर पेश करेगा तो हिन्दुस्तान में एक क़यामत बरपा हो जायेगी।

प्रफुल्ल राय फ़िल्मसाज़ी की तकनीक से बिलकुल अंजान था। जर्मनी में केवल कुछ दिन उसने अपना स्टूडियोज़ में इस कारीगरी का थोड़ा अध्ययन किया था लेकिन जब वह इंग्लैण्ड से अपने साथ एक कैमरामैन और एक डायरेक्टर ले कर आया और इण्डिया टॉकीज़ का पहला फ़िल्म सेट पर गया तो स्टूडियोज़ के सारे काम पर उसकी सूझबूझ की धाक बैठ गयी। बहुत कम बात-चीत करता था। सुबह सवेरे स्टूडियो आता था और सारा दिन अपने कार्यालय में फ़िल्म के दृश्य और संवाद तैयार करने में व्यस्त रहता था। शूटिंग का एक प्रोग्राम सम्पादक था जिसके अनुसार काम होता था। हर क्षेत्र का एक देखभाल करने वाला था जो प्रफुल्ल के कहने के अनुसार चलता था।

स्टूडियो में हर तरह की आवारगी मना थी। बहुत साफ़-सुथरा माहौल था जिसमें हर काम बड़े ढंग से होता था। पहला फ़िल्म तैयार हो कर बाज़ार में आ गया। प्रफुल्ल राय की खला देखने वाली आँखों ने जो देखना चाहा था वही पर्दे पर पेश हुआ। वह ज़माना भड़कीले-पन का था हिरोइन वही समझी जाती थी जो चमक़दार कपड़ों में मलबूस हो, ऊँची सोसायटी से सम्बन्धित हो। ऐसे रूमानों में परेशान हो, हक़ीक़त से जिन्हें दूर का भी वास्ता नहीं। ऐसी बोली बोले जो स्टेज के ड्रामों में बोली जाती है—लेकिन प्रफुल्ल राय के पहले फ़िल्म में सब कुछ उसकी प्रतिक्रिया थी। फ़िल्मबीनों के लिए यह परिवर्तन यह अचानक इंक़लाब बड़ा सुहावना था अतः यह हिन्दुस्तान में हर जगह सफल हुआ और लतिका रानी ने लोगों के दिल में तुरन्त ही अपना स्थान पैदा कर लिया।

प्रफुल्ल राय इस सफलता पर बहुत सन्तुष्ट था। वह जब लतिका के मासूम चेहरे और उसकी भोली-भाली अभिनेत्री से सम्बन्धित अख़बारों में पढ़ता था तो उसको इस ख़याल से कि वह उनका ख़ालिक़ है बहुत राहत पहुँचाती थी। लेकिन लतिका पर इस सफलता का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। उसकी अन्दाज़ागीर तबीयत के लिए यह कोई ग़ैरमुतवक़्क़ा चीज़ नहीं थी। वह सफलता जो भाग्य की कोख में छिपी हुई थी, खुली हुई किताब की पन्नों की तरह उसके सामने थी।

पहले फ़िल्म की प्रदर्शनी में वह कैसे कपड़े पहन कर सिनेमा हॉल में जायेगी। अपने पति प्रफुल्ल राय से दूसरों के सामने किस तरह की बातचीत करेगी। जब उसे हार पहनाए जायेंगे तो वह उन्हें उतारकर खुश करने के लिए उसके गले में डालेगी। उसकी होंटों का कौन सा कोना किस समय पर किस अन्दाज़ में मुस्कुराएगा यह सब उसने एक महीना पहले सोच लिया था।

स्टूडियो में लतिका की हर हरकत हर अदा एक ख़ास प्लान के अनुसार काम में आती थी। उसका मकान पास ही था। सर हावर्ड को प्रफुल्ल राय ने स्टूडियो के मध्य भाग में जगह दे रखी थी। लतिका सुबह सवेरे आती और कुछ समय सर हावर्ड के साथ गुज़ारती जिसको बाग़बानी का शौक़ था। आधा घण्टे तक वह उस बुड्ढे अलगन नाईट के साथ फूलों के सम्बन्ध में बातचीत करती रहती। उसके बाद घर चली जाती और अपने पति से उसकी आवश्यकतानुसार थोड़ा सा प्यार करती। वह स्टूडियो चला जाता और लतिका अपने सादे मेकअप में जिसका एक-एक पत्र एक-एक बिन्दु प्रफुल्ल का बनाया हुआ था, व्यस्त हो जाती।

दूसरा फ़िल्म तैयार हुआ, फिर तीसरा इसी तरह पाँचवाँ यह सब सफल हुए इतने सफल कि दूसरे फ़िल्म साज़ों को स्थापित किये गये इण्डिया टॉकीज लिमिटेड के पंजों पर मज़बूती चल पड़ा। इस नकल में वह सफल हुए या असफल इसके सम्बन्धित हमें कोई सरोकार नहीं। लतिका की ख़्याति हर नये फ़िल्म के साथ आगे ही आगे बढ़ती गयी। हर जगह इण्डिया टॉकीज़ लिमिटेड का शोर था। मगर प्रफुल्ल राय को बहुत कम आदमी जानते थे। वह जो उसका निर्माता था, वह जो लतिका का निस्फ़ बेहतर था। लेकिन प्रफुल्ल ने कभी इस सम्बन्ध में सोचा ही नहीं था। उसकी ख़ला में झाँकने वाली आँखें हर समय सिगरेट के धुँए में

लतिका के रोज़ नये रूप बनाने में व्यस्त रहती थीं।

इन फ़िल्मों में हीरो का कोई महत्त्व नहीं था। प्रफुल्ल राय को इशारों पर वह कहानी में उठता बैठता और चलता था। स्टूडियो में भी उसका व्यक्तित्व मामूली था। सब जानते थे कि पहला नम्बर मिस्टर राय का और दूसरा मिसेज़ राय का जो बाक़ी है सब फ़िज़ूल है। लेकिन उसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि हीरो ने पर-पुर्ज़े निकालने आरम्भ कर दिये। लतिका के साथ उसका नाम पर्दे पर लाज़िम व मलज़ूम हो गया था इसलिए उससे उसने फ़ायदा उठाना चाहा। लतिका से उसे दिली नफ़रत थी इसलिए वह उसके हुकूक़ की परवा नहीं करता था। इसका इज़हार भी उसने अब धीरे-धीरे स्टूडियो में करना आरम्भ कर दिया था जिसका नतीजा यह हुआ कि अचानक प्रफुल्ल राय ने अपने आने वाली फ़िल्म में उसको शामिल न किया। इस पर छोटा-सा हंगामा बरपा हुआ। लेकिन तुरन्त ही दब गया। नये हीरो के आने में थोड़ी देर स्टूडियो में खुसर पुसर होती रही। लेकिन यह भी धीरे-धीरे गायब हो गयी।

लतिका अपने पति के इस फ़ैसले से सहमत नहीं थी लेकिन उसने उसे तब्दील करने की कोशिश न की। जो हिसाब उसने लगाया था उसके अनुसार ताज़ा फ़िल्म नाकाम साबित हुआ। उसके बाद दूसरा भी। और जैसा कि लतिका को मालूम था उसकी ख़्याति दबने लगी और एक दिन यह सुनने में आया कि वह नये हीरो के साथ भाग गयी है। समाचार पत्रों में एक तहलक़ा मच गया। लतिका का दामन हैरतनाक तौर पर रूमान आदि से पाक रहा था। लोगों ने जब सुना कि वह नये हीरो के साथ भाग गयी है तो उसके इश्क़ की कहानियाँ गढ़नी शुरू कर दीं।

प्रफुल्ल राय को बहुत सदमा हुआ जो उसके क़रीब थे उनका बयान है कि वह कई बार बेहोश हुआ। लतिका का भाग जाना उसकी ज़िन्दगी का बहुत बड़ा सदमा था। उसका वजूद उसके लिए कैनवस का एक टुकड़ा था। जिस पर वह अपने सपनों की तस्वीरकशी करता था। अब ऐसा टुकड़ा उसे और कहीं से प्राप्त न हो सकता था। ग़म के मारे वह निढाल हो गया। उसने कई बार चाहा कि स्टूडियो को आग लगा दे और उसमें ख़ुद को झोंक दे। मगर इसके लिए बड़ी हिम्मत की ज़रूरत थी जो उसमें नहीं थी।

आख़िर पुराना हीरो आगे बढ़ा और उसने मामला सुलझाने के लिए अपनी खिदमात पेश की। वह लतिका के बारे में ऐसी-ऐसी बातों को सामने लाया कि प्रफुल्ल भौंच्चका रह गया। उसने बताया कि लतिका ऐसी औरत है जो मुहब्बत के लतीफ़ जज़्बे से बिलकुल महरूम है। नये हीरो के साथ वह इसलिए नहीं भागी कि उसको उससे इश्क़ है। यह केवल असिस्टेण्ट है। एक ऐसी चाल जिससे वह अपनी गिरती हुई शोहरत को थोड़ी देर के लिए सँभाल देना चाहती है और इसमें उसने अपने साथ काम करने वाले नये हीरो को इसलिए बनाया है कि वह मेरी तरह “ख़ुद सर” नहीं वह उसको इस तरह अपने साथ ले गयी जिस तरह किसी नौकर को ले जाते हैं। अगर उसने मुझे चुना होता तो उसकी स्कीम कभी सफल न होती। मैं कभी इसके हुक्म पर न चलता। वह उस समय वापस आने के लिए तैयार है क्योंकि उसके हिसाब के अनुसार उसकी वापसी में बहुत दिन ऊपर हो गये हैं...और मैं तो यह समझता हूँ कि शायद मैं यह बातें भी उसी के कहने के अनुसार आपको बता रहा हूँ।

दूसरे तख़लीक़ी फ़नकारों की तरह प्रफुल्ल राय भी परले दर्जे का सनकी था पुराने हीरो की यह बातें तुरन्त ज़ेहन में बैठ गयीं, लेकिन जब लतिका वापस आयी तो उसने आशिक सादिक़ से गिले शिक्वे शुरू कर दिये और उसको बेवफाई का मुजरिम क़रार दिया।

लतिका ख़ामोश रही। उसने अपनी बेगुनाही के औचित्य में कुछ न कहा। पुराने हीरो ने उसके सम्बन्ध में जो बातें उसके शौहर से की थीं उसने उसपर भी कोई तबसरा न किया। उसके कहने के अनुसार पुराने हीरो का वेतन दुगना हो गया। अब वह उससे बातें भी करती थी, लेकिन उनके बीच वह फ़ासला बदस्तूर क़ायम रहा जिसकी सीमाएँ शुरू ही से निश्चित कर चुकी थीं।

फ़िल्म फिर कामयाब हुआ। जो उसके बाद पेश हुआ उसे भी क़ामयाबी नसीब हुई। लेकिन इस दौरान में इण्डिया टॉकीज़ लिमिटेड के पत्रों पर चल कर और कई अदारे फ़िल्म की नयी राहें खोल चुके थे। अनगिनत नये चेहरे जो लतिका के मुक़ाबले में कई गुणा पुरकशिश थे, स्क्रीन पर पेश हो चुके थे। पुराने हीरो का ख़याल था कि लतिका ज़रूर अपने पति को छोड़ कर किसी और फ़िल्म साज़ की आगोश में चली जायेगी। जो इसके वजूद में नये जज़ीरें दर्याफ्त कर सके। लेकिन बहुत देर तक कोई क़ाबिले ज़िक्र बात वकूअ पज़ीर न हुई।

स्टूडियो में लतिका के सम्बन्ध में हर दिन भिन्न-भिन्न बातें होती थीं। सब यह जानने की कोशिश करते थे कि पति के साथ उसके सम्बन्ध किस प्रकार के हैं। उनके बारे में कई रिवायतें मशहूर थीं। जिनमें से एक यह भी थी कि वह अपने साईस के साथ ख़राब है। यह रिवायत पुराने हीरो से थी। उसको यक़ीन था कि लतिका अपने साईस राम भरोसे के ज़रिये से अपनी शारीरिक इच्छाएँ पूरी करती हैं और अपने पति प्रफुल्ल राय से उसके सम्बन्ध में केवल नुमाइशी बिस्तर तक सीमित हैं।

पुराना हीरो अपने इस मफ़रूज़े के जवाज़ में यह कहता था "लतिका जैसी और इस क़िस्म के सम्बन्ध सिर्फ़ अदना-क़िस्म के नौकर ही पैदा कर सकते हैं जो इसके इशारे ही पर चल जाय। जिसकी गर्दन उसके एहसान तले दबी रहे अगर वह इश्क़ो-मुहब्बत करने की अहलियत रखती तो नये हीरो के साथ भाग कर फिर वापस न आती—यह उसका असिस्टेंट था और उसका पोल खुल चुका है। तुम यक़ीन मानो कि उसके दिन लद चुके हैं, और वह उसे जानती है और अच्छी तरह समझती है उसको यह भी मालूम है कि मिस्टर राय की तमाम ताक़तें उसे बनाने और सँवारने में ख़त्म हो चुकी हैं। अब वह आम की चुसी हुई गुठली की तरह है—इसमें वह रस नहीं रहा जिससे वह इतनी देर अमृत प्राप्त करती रही थी। तुम देख लेना, थोड़े ही अर्से के बाद अपनी कायाकल्प कराने की ख़ातिर वह किसी और फ़िल्मसाज़ की आगोश में चली जायेगी।"

लतिका किसी और फ़िल्मसाज़ की आगोश में न गयी। ऐसा मालूम होता कि यह मोड़ उसके बनाए हुए नक़्शे में नहीं था। नये हीरो के साथ भाग जाने के बाद उसमें बज़ाहिर कोई फ़र्क़ नहीं आया था। सर हावर्ड के साथ सुबह सवेरे बाग़बानी में व्यस्त वह अब भी उसी तरह नज़र आती थी। स्टूडियो में उसके बारे में जो बातें होती थीं उसके जानकारी में थीं। मगर वह

ख़ामोश रहती थी।

दो फ़िल्म और बने जो बहुत बुरी तरह नाकाम हुए। इण्डिया टॉकीज़ लिमिटेड का रौशन नाम धीमा होने लगा। लतिका का इस पर कोई रद्देअमल ज़ाहिर न हुआ। मगर स्टूडियो का हर आदमी जानता था कि मिस्टर राय सख़्त परेशान हैं। पुराने हीरो ने जो अपने आक़ा की क़द्र करता था और उसका हमदर्द भी था। कई बार उसे राय दी कि वह कम्पनी के बखेड़े से अलग हो जायें। फ़िल्म साज़ी का काम अपने शागिर्द को सौंप दे और ख़ुद आरामो-सुकून की ज़िन्दगी बसर करना शुरू कर दे। मगर इसका कुछ असर न हुआ। ऐसा मालूम होता कि प्रफुल्ल राय एक बार फिर अपने विचार मन दिमाग़ की तितर-बितर शक्तियों को जमा करना चाहता है और लतिका के वजूद के ढीले ताने-बाने में एक नये और देरपा ख़्वाब के नक़्श उभारने में व्यस्त है।

घर के नौकरों से जो ख़बरें बाहर आती थीं उनसे पता चलता था कि मिस्टर राय का मिज़ाज बहुत चिड़चिड़ा हो गया है। हर समय झुँझलाया रहता है। कभी-कभी गुस्से में आकर लतिका को गन्दी-गन्दी गालियाँ भी देता है। वह खामोश रहती है। रात को जब मिस्टर राय को रात जागने की शिकायत होती है तो वह उसका सर सहलाती है, पाँव दबाती है और सुला देती है।

पहले मिस्टर राय कभी असरार नहीं करते थे कि लतिका उनके पास सोये, पर अब वह कई बार रातों को उठ-उठ कर उसे ढूँढते थे और उसको मजबूर करते थे कि वह उनके साथ सोये। पुराने हीरो को जब ऐसी बातें मालूम होती थीं तो उसे बहुत दुख होता था।

“मिस्टर राय बहुत बड़ा आदमी है लेकिन अफ़सोस कि उसने अपना दिमाग़ एक ऐसी औरत के क़दमों में डाल दिया जो किसी तरह भी उस ऐज़ाज़ के क़ाबिल नहीं थी। वह औरत नहीं चुड़ैल थी। मेरे इख़्तियार में हो तो मैं उसे गोली से उड़ा दूँ। सबसे बड़ी ट्रेजडी तो यह है कि मिस्टर राय को अब उससे बहुत ज़्यादा मुहब्बत हो गयी है।”

जो ज़्यादा गहराइयों में उतरने वाले थे, उनका ख़याल यह था कि प्रफुल्ल राय में चूँकि अब लतिका को कोई रंग-रूप देने की ताक़त बाक़ी नहीं रही, इसलिए वह झुँझला कर उसको ख़राब कर देना चाहता है। अब तक वो उसे मुक़द्दस चीज़ समझता रहा था जिस पर उसने गन्दगी का एक कण तक भी नहीं गिरने दिया था। मगर अब वह इसे नापाक कर देना चाहता है। गन्दगी में लथेड़ देना चाहता है ताकि जब वह किसी के मुँह से यह सुने कि तुम्हारी लतिका को हमने फुला-फुला नजासत से किया है तो उसे ज़्यादा रूहानी तकलीफ़ न हो। वह पहले सपनों की नरम व नाज़ुक दुनिया में बसता था, अब हक़ीक़त के पत्थरों के साथ अपना और लतिका का सर फोड़ना चाहता है।

वक़्त गुज़रता गया, इण्डिया टॉकीज़ लिमिटेड के बाईसवीं फ़िल्म की शूटिंग जारी थी, प्रफुल्ल राय एक बिलकुल नया तजर्बा कर रहा था। लेकिन स्टूडियो के आदमियों को मालूम था कि वह किस प्रकार का है। राय के दफ़्तर की बत्ती रात को देर तक जलती रहती थी। घर जाने के बजाय अब वह अक्सर वहीं सो जाता था। काग़ज़ों के ढेर उसकी मेज़ पर लगे रहते थे। जब उसकी ऐशट्रे साफ़ की जाती तो जले हुए सिगरेटों का एक ढेर निकलता। कहानी

लिखी जा रही थी मगर किस तरह की इस के बारे में सीनियर डिपार्टमेंट को भी कुछ मालूम नहीं था।

दर्ज़ीख़ाने के लोग क़रीब-क़रीब बेकार थे। एक दिन लतिका वहाँ नमूदार हुई और उसने अपने लिए लम्बी आस्तीनों वाला काला ब्लाउज़ बनाने का हुक्म दिया। कपड़ा उसके पसन्द के अनुसार आया। डिजाइन भी उसने ख़ुद चुना, इसके साथ ही उसने काले जारजेट की साड़ी मँगवाई फिर हेयर ड्रेसर मिस डी मीलो से अपने नये हेयर स्टाइल के सम्बन्ध में मुफ़स्सिल बात-चीत की। ये बातें जब स्टूडियो में आम हुईं तो लोगों ने नये फ़िल्म के बारे में अपनी अपनी फ़िक्र के अनुसार अन्दाज़े लगाये। पुराने हीरो का यह ख़याल था कि मिस्टर राय शायद अपनी ज़िन्दगी की ट्रेजडी पेश करेंगे। लेकिन जब पहली शूटिंग की ख़बर बोर्ड पर लगी और सेट पर काम शुरू हुआ तो लोगों को बड़ी ना-उम्मीदी हुई। वही पुराना माहौल था, और वही पुराने कपड़े।

शूटिंग लगातार बड़े हमवार तरीके पर जारी रही। लेकिन अचानक स्टूडियो में एक दिन शोर बरपा हो गया। प्रफुल्ल राय हस्बे मामूल सेट पर नमूदार हुआ। थोड़ी देर उसने शूटिंग देखी और एक दम कैमरामैन पर बरस पड़ा। आव देखा ना ताव ज़ोर का थप्पड़ उसके कान पर जड़ दिया। जिसके बाद वह बेहोश हो गया। पहले तो स्टूडियो के आदमी ख़ामोश रहे लेकिन जब उन्होंने देखा कि मिस्टर राय पर दीवानगी तारी है तो उन्होंने मिलकर उसे पकड़ लिया उसे घर से ले गये।

अच्छे-अच्छे डॉक्टर बुलाये गये मगर प्रफुल्ल राय की दीवानगी बढ़ती गयी। वह बार-बार लतिका को अपने पास बुलाता था मगर जब वह उसकी नज़रों के सामने आती थी तो उसका जोश बढ़ जाता था और वह चाहता था कि उसे नोच डाले। इतनी गालियाँ देता था। ऐसे-ऐसे बुरे नामों से उसे याद करता था कि सुनने वाले हैरतज़दा एक-दूसरे का मुँह तकने लगते थे।

पूरे चार दिन तक प्रफुल्ल राय पर दीवानगी तारी रही। बहुत ख़तरनाक क़िस्म की दीवानगी थी। पाँचवी रोज़ सुबह सवेरे जब लतिका सर हावर्ड के साथ बाग़बानी में व्यस्त थी और दबी-दबी ज़बान से अपने पति की अफ़सोसनाक बीमारी का ज़िक्र कर रही थी। यह ख़बर पहुँची कि मिस्टर राय आख़िरी साँस ले रहे हैं। यह सुन कर लतिका को गश आ गया। सर हावर्ड और स्टूडियो के दूसरे आदमी उनको होश में लाने की कोशिश में व्यस्त थे कि दूसरी ख़बर पहुँची कि मिस्टर राय स्वर्गवासी हो गये।

दस बजे के क़रीब जब लोग अर्थी उठाने के लिए कोठी पहुँचे तो लतिका नमूदार हुई। उसकी आँखें सूजी हुई थीं। बाल परेशान थे। काली साड़ी और काला ब्लाउज़ पहने हुए थी। पुराने हीरो ने उसको देखा और बड़ी नफ़रत से कहा।

"कमबख़्त को मालूम था कि यह सीन कब शूट किया जाने वाला है..."

❑❑